न्यायिक मार्ग-दर्शिका

खण्ड-1

योगः कर्मसु कौशलम् ।।

सब कार्यों को कुशलता के साथ
करना ही योग है ।

न्यायिक प्रशिक्षण एवं अनुसंधान संस्थान
उत्तर प्रदेश
ए-1/19, विश्वास खण्ड, गोमती नगर, लखनऊ-16

प्रथम संस्करण वर्ष 1987
द्वितीय संस्करण वर्ष 1992

प्रस्तावना

प्रारम्भ में प्रशिक्षणार्थियों के लिए कुछ पाठ्य सामग्री की पुस्तिकाएं (ब्रोशर) अंग्रेजी में तैयार की गई थीं। ये अपर जिला जजों के रिफ्रेशर कोर्स में प्रशिक्षणार्थियों को वितरित भी गई थी। इनमें न्यायिक अधिकारियों के सामने दिन प्रतिदिन आने वाली समस्याओं के बारे में प्रामाणिक सामग्री संकलित करने का प्रयास किया गया था। कुछ तो हमें प्रशासकीय प्रशिक्षण संस्थान, नैनीताल में दी गई कुछ वार्ताओं की प्रतियां प्राप्त हो गई थीं। उनमें से जो अधिक उपयोगी थीं उनका चयन किया गया और उन्हें सम्पादित भी किया गया। इसके अतिरिक्त मैंने अपने निजी नोट्स एवं नवीनतम नजीरों के आधार पर कुछ सामग्री तैयार की व कुछ लेख लिखे। कुछ लेख अन्य स्रोतों से भी लेकर शामिल किए गए। शिष्टाचार के विषय में हमें लाल बहादुर शास्त्री अकादमी से एक पुस्तिका प्राप्त हुई, उसका भी समावेश किया गया। इन पुस्तिकाओं को माननीय उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों एवं शासन के उच्च अधिकारियों द्वारा पसन्द किया गया था।

उक्त पुस्तिकाएं साइक्लोस्टाइल कराकर वितरित की गई थीं। किन्तु बाद में उनको स्थायित्व देने के लिए उन्हें मुद्रित कराना आवश्यक समझा गया। मुद्रित कराते समय यह उपयुक्त समझा गया कि उनमें से भी सर्वाधिक उपयोगी सामग्री का संकलन और सम्पादन करके उसे पुस्तक के रूप में हिन्दी में छपवाया जाए। इसके लिए मैंने सेवानिवृत्त जिला न्यायाधीश डा. मोती बाबू, जिनका विधिक हिन्दी के क्षेत्र में एक विशिष्ट स्थान रहा है और जो इस क्षेत्र में निरन्तर रचनात्मक कार्य में लगे हैं, से सहयोग के लिए अनुरोध किया। मैं उनका आभारी हूं कि उन्होंने यह सहयोग बड़े उत्साह से और पूर्णतः सेवा के भाव से और बिना किसी व्यक्तिगत लाभ के प्रदान किया। उन्होंने स्वयं भी कई लेख लिखे, और पुराने लेखों में भी काट,छांट और परिवर्द्धन के बहुमूल्य सुझाव दिए। प्रूफरीडिंग तक की जिम्मेदारी उन्होंने सम्हाली। उनके प्रयत्नों के फलस्वरूप यह पुस्तिका इतनी शीघ्र छपकर तैयार हो सकी। इसे संस्थान की ओर से प्रदेश के सभी अधीनस्थ न्यायालयों को निःशुल्क वितरित करने का प्रस्ताव है। आशा है कि न्यायिक अधिकारी इसका पूरा लाभ उठाएंगे।

मैं इस अवसर का लाभ माननीय कार्यकारी मुख्य न्यायाधिपति श्री अमिताभ बनर्जी व अन्य न्यायाधीशों, विशेषकर प्रशिक्षण समिति के सदस्य न्यायमूर्तिगण कृष्णचन्द्र अग्रवाल व बी.एन. मिश्रा, के प्रति संस्थान के कार्यकलाप में विशेष रुचि लेने व सहयोग देने के लिए आभार प्रकट करने हेतु भी लेना चाहूंगा। साथ ही मैं न्याय सचिव श्री श्रीनाथ सहाय, एवं न्याय विभाग व संस्थान के सभी अधिकारियों व कर्मचारियों का आभारी हूं जिनके निरन्तर सहयोग के बिना संस्थान इतने अल्प समय में इतनी अधिक प्रगति नहीं कर सकता था।

लखनऊ : 15 अगस्त, 1987

कैलाशनाथ गोयल
अवैतनिक निदेशक
न्यायिक प्रशिक्षण एवं अनुसंधान संस्थान

द्वितीय संस्करण की भूमिका

इस पुस्तक का प्रथम संस्करण 1987 में प्रकाशित हुआ था। संस्थान में विभिन्न प्रशिक्षण कार्यक्रमों के दौरान इस पुस्तक में प्रशिक्षणार्थियों की विशेष रुचि देखने को मिली। इस पुस्तक का प्रथम संस्करण न्यायिक अधिकारियों में वितरित करने के उपरान्त हमें विभिन्न जनपदों से जो प्रतिक्रियाएं प्राप्त होती रही हैं उनसे इस पुस्तक में अंतर्विष्ट विषयवस्तु की सार्थकता प्रकट होती है। इन कारणों से पुस्तक का द्वितीय संस्करण का मुद्रण आवश्यक हो गया।

इस संस्करण के मुद्रण की देखभाल का कार्य संकाय अधिकारियों एवं कर्मचारियों ने बड़े उत्साह एवं मनोयोग से किया है।

मुझे विश्वास है कि न्यायिक सेवा के अधिकारियों के लिए यह पुस्तक अत्यन्त लाभप्रद सिद्ध होगी।

जनवरी, 1992

ईश्वर सहाय माथुर
निदेशक

विषय-सूची

मुख्य न्यायाधिपति श्री अमिताभ बनर्जी का उद्घाटन भाषण	1
न्यायिक स्वभाव–न्याय. श्री हरि स्वरूप	1
दो बातें – न्याय. श्री सतीश चन्द्र	10
न्यायिक अधिकारी आचार संहिता–(अमरीकी बार एसोसिएशन)	16
हमारी विधि-क्षेत्रीय भाषा – न्याय. श्री मुरलीधर लाल श्रीवास्तव	22
मुकदमे का संचालन और नियंत्रण–न्याय. श्री सीमित वाल्ल	28
बयान व बहस में न्यायाधीश द्वारा हस्तक्षेप– (संकलित)	31
निर्णय लेखन–न्याय. श्री कैलाश नाथ गोयल	35
कानून का उल्लेख–डा. मोती बाबू	41
मौखिक साक्ष्य और उसका मूल्यांकन–(संकलित)	48
स्वतंत्र साक्ष्य–न्याय. श्री एस. एम. ध्वन	55
प्रवर्तनशील आदेश–(संकलित)	57
न्यायिक आदेशिकाओं से उत्पन्न सिविल और दाण्डिक दायित्व विषयक निर्णय–(संकलित)	62
सिविल प्रक्रिया संहिता के केन्द्रीय और राज्य संशोधन– न्याय. श्री कैलाश नाथ गोयल	67
सिविल न्यायालय की अधिकारिता और उसका वर्जन–(संकलित)	70
न्यायालय की अन्तर्निहित शक्तियां–(संकलित)	79
अवश्यपालनीय आदेश और न्यायालय की तत्पश्चात् समय बढ़ाने की शक्ति	82
सरकार के पक्षकार होने की दशा में–(संकलित)	85
व्यादेश और रोक आदेश–(संकलित)	89
विवाचकों की विरचना–(संकलित)	98
सिविल मामलों में दस्तावेज औपचारिक रूप से साबित करने से छूट	105
एकतरफा निर्णीत वादों का पुनःस्थापन–(संकलित)	109
प्रथम इत्तिला रिपोर्ट–डा. मोती बाबू	115
रिमाण्ड वारण्ट–(संकलित)	122
जिनाकत कार्यवाही–(संकलित)	129
अपराध का मजिस्ट्रेट द्वारा संज्ञान–(संकलित)	135
दाण्डिक मामलों में सबूत की मात्रा–प्रो. ग्लेनविल विलियम्स	144
सन्देह का लाभ–(संकलित)	147
न्यायालय का अवमान–उच्चतम न्यायालय के विचार	152

———

माननीय मुख्य न्यायाधिपति श्री अमिताभ बनर्जी का न्यायिक अधिकारियों को उद्‌बोधन

कुछ न्यायिक अधिकारियों का यह विचार रहता है कि उन्हें नियत न्यूनतम मात्रा (कोटा) से अधिक कार्य करने की आवश्यकता नहीं है। उस दशा में वे मात्र औसत अधिकारियों की कोटि में आएंगे। मेरा दृढ़ मत है कि ··· प्रतिनियुक्ति के पदों पर केवल उच्च कोटि के अधिकारियों को भेजा जाना चाहिए, न कि औसत अधिकारियों को। उच्च न्यायालय में नियुक्ति भी केवल उत्कृष्ट अधिकारियों की होनी चाहिए, जिनका सेवा-वृत्त बहुत अच्छा रहा हो। तभी न्यायिक सेवा आपर गर्व कर सकेगी इस राज्य की न्यायिक सेवा का कीर्तिमान एवं न्याय-व्यवस्था में अंशदान बराबर ऊंचा रहा है और उस पर किसी को भी गर्व हो सकता है किन्तु इधर स्तर में एकदम गिरावट आई है, जिसके परिणामस्वरूप आपकी सेवा की प्रतिष्ठा को धक्का लगा है। सेवा को उसकी पूर्व प्रतिष्ठा केवल न्यायिक अधिकारी ही अपने प्रयास से वापस दिला सकते हैं। सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं न्यायिक नैतिकता का पालन, वास्तविक विद्वत्ता और सौजन्य। विधि पत्रिकायें पढ़ने का अभ्यास बना लें। आपका विधि विषयक ज्ञान अद्यतन होना चाहिए।···

भारत के मुख्य न्यायाधिपति ने भारतीय बार काउंसिल की गोष्ठी में समापन भाषण देते हुए कहा था : "न्याय-प्रशासन में गति लाने वाले कारणों में सर्वाधिक महत्पूर्ण यह है कि संगठन में अनुशासन का पालन किया जाए। अधिवक्ताओं को एक अनुशासन का पालन करना चाहिए। उसी प्रकार से न्यायधीशों और न्यायिक अधिकारियों को भी एक अनुशासन का पालन करना चाहिए····· उसी संदर्भ में प्रत्येक स्तर पर न्यायाधीश को यह सुनिश्ति कर लेना चाहिए कि वह न्यायालय के समय का पालन करे।··· अच्छा न्यायाधीश वही है जो अधिवक्ता के प्रति शालीनता बरतते हुए कार्यवाही में लगने वाले समय पर दृढ़तापूर्वक नियंत्रण रखे। आज हम जिन परिस्थितियों में रह रहे हैं उनमें कड़े अनुशासन की आवश्यकता है। जनता को हमारे न्याय-प्रशासन में आस्था तभी होगी जब वह मात्रा एवं गुणवत्ता दोनो ही की दृष्टि से उच्चतम स्तर का हो।

—(न्यायिक प्रशिक्षण एवं अनुसंधान संस्थान में 23 मई, 1987 को दिए गए समापन भाषण से)

न्यायमूर्ति श्री अमिताभ बनर्जी (कार्यकारी मुख्य न्यायाधिपति) का नए मुंसिफ-मजिस्ट्रेटों को उद्बोधन

न्यायमूर्तिगण, न्यायिक प्रशिक्षण एवं अनुसंधान संस्थान के निदेशक न्यायमूर्ति श्री कैलाश नाथ गोयल, राज्य की न्यायिक सेवा में नवप्रविष्ट प्रशिक्षणार्थी मुंसिफगण, देवियों तथा सज्जनों !

इस संस्थान में मुंसिफों के प्रशिक्षण के प्रथम पाठ्यक्रम के उद्घाटन के लिए इस समय यहाँ उपस्थित होने में मुझे विशेष प्रसन्नता अनुभव हो रही है। मुझे हर्ष है कि अब हमारा अपना संस्थान हो गया है, जो राज्य की न्यायिक सेवा में आने वाले अधिकारियों को प्रशिक्षण देगा। मुझे बहुप्रतिष्ठित महानुभावों को यहाँ एकत्र देखकर भी विशेष हर्ष है। उच्च न्यायालय के कई वर्तमान एवं भूतपूर्व न्यायाधीश, उच्चतर न्यायिक सेवा के अनेक सदस्य तथा अन्य प्रख्यात व्यक्ति यहाँ उपस्थित हैं। वस्तुतः यह एक स्मरणीय अवसर रहेगा।

प्राचीन काल में जब कोई नवयुवक अपने गुरू के यहाँ जाता था तो उसकी शिक्षा का प्रारम्भ गुरू की व्यक्तिगत देखरेख में होता था। वहाँ वह अनेक वर्ष व्यतीत करता था और जीवन के लिये आवश्यक सभी शिक्षा वह गुरू से प्राप्त करता था। अब हमारे यहाँ वैसी संस्थायें नहीं हैं। किन्तु विभिन्न विषयों पर वृत्तिक प्रशिक्षण[1] प्रदान करने वाली संस्थायें हैं। जो व्यक्ति डाक्टर, इंजीनियर, या सिपाही भी बनना चाहता है उसे कुछ समय एक वृत्तिक संस्थान में गुजारना होता है, जहाँ उसे ज्ञान ही नहीं अपितु कौशल भी प्राप्त होता है। विधि ही ऐसी एकमात्र वृत्ति है जिसके लिये इस प्रकार की कोई व्यवस्था नहीं थी। नवागत व्यक्तियों को जिस थोड़े से प्रशिक्षण की आवश्यकता होती थी पहले वह उन्हें अपने ज्येष्ठ अधिवक्ताओं से मिल जाता था, जिनसे वे वकालत के लिये प्राधिकृत होने के पूर्व अनिवार्यतः सम्बद्ध होते थे। अब वह भी बन्द हो गया है। विधि स्नातकों को वकील बनने के पहले अब कोई विशेषज्ञता प्राप्त नहीं करनी होती। उनके लिये न तो कोई संस्थान है, और न ही कोई प्रशिक्षण

1. Professional training.

कार्यक्रम । मैंने सुना है कि भारतीय बार काउन्सिल विधि स्नातकों को वकालत करने का प्रमाण-पत्र देने के पूर्व एक प्रशिक्षण पाठ्यक्रम तथा परीक्षा की योजना बना रही है । यह वस्तुतः सौभाग्यमय कदम होगा । यह सही है कि अधिवक्ता को अधिकांश प्रशिक्षण न्यायालय में काम करने से मिलता है; किन्तु यदि व्यक्ति को आधारभूत सैद्धान्तिक या व्यावहारिक ज्ञान न हो तो वह प्रक्रियाओ व नियमों की भूलभुलैया में खो भी सकता है ।

राज्य की न्यायिक सेवा में नये आने वाले व्यक्तियो की स्थिति भी ऐसी ही है । विश्वविद्यालय से विधि स्नातक हुए व्यक्ति यहां सीधे आते हैं । उन्हें वकालत का कुछ अनुभव हो भी सकता है और नहीं भी । यदि वे लोक सेवा आयोग द्वारा ली जाने वाली लिखित और मौखिक परीक्षा में सफल हो जाते हैं तो मुंसिफ के रूप में नियुक्त कर दिये जाते हैं । यह नितान्त आवश्यक है कि मुंसिफों को न्याय-कार्य देने के पूर्व उन्हें सिद्धान्त और व्यवहार, दोनों पक्षों का प्रशिक्षण मिलना चाहिये । सिद्धान्त पक्ष व्यवहार पक्ष की अपेक्षा कम महत्व का नहीं है । व्यवहार पक्ष के विषय में यहां एक अन्तर है । मुंसिफ प्रशिक्षण के दौरान स्वयं कोई न्याय-कार्य नहीं करते; वे उसे केवल देखते हैं । यदि उन्हें सिद्धान्त पक्ष की भी शिक्षा मिली हो तो वे उसके व्यवहार पक्ष को आसानी से समझ जायेंगे और उसका अनुसरण कर सकेंगे । वे अपने समक्ष आने वाले मामलों को निपटाने के लिये बेहतर सन्नद्ध होंगे । इसी दृष्टि से यह प्रशिक्षण पाठ्यक्रम आप लोगों के लिये तैयार किया गया है ।

निस्संदेह आपको आजीवन मेहनत करना व सीखना है । आपको अपने सामने आने वाले विधि के सभी विषयों में विद्वान होने के अतिरिक्त प्रक्रिया में भी कुशल होना है । यदि प्रक्रिया में आप दक्ष हुए तो कम त्रुटियां करेंगे । किन्तु फिर भी मूल विधि[1] की आप उपेक्षा नहीं कर सकते । इस प्रशिक्षण संस्थान का लक्ष्य यह है कि आप में वह चिनगारी उत्पन्न करे जिससे आप में ऐसा प्रकाश जगे जो आपके पूरे न्यायिक जीवन को दीप्तिमान करे ।

इस संस्थान की स्थापना कुछ मास पूर्व ही हुई है । किन्तु मैं आपको विश्वास दिलाता हूं कि आपका मार्गदर्शन बड़े दक्ष महानुभावों के हाथों में है । आपके निदेशक श्री कैलाश नाथ गोयल बहुमुखी प्रतिभा वाले और अत्यन्त दक्ष

1. Substantive law.

एवं अनुभवी न्यायिक अधिकारी रहे हैं, जिन्होंने अपने लगभग 40 वर्ष के दीर्घ कार्य-काल में न्याय की अनवरत सेवा की है। न्यायिक अधिकारी के प्रत्येक स्तर पर से वे गुजरे हैं और ऐसा कुछ नहीं है जो वे न जानते हों। विश्वास करें, यदि कोई ऐसी बात है जो वे नहीं जानते तो वह सम्भवतः इस कारण कि वह जानने योग्य ही नहीं है। आपका पाठ्यक्रम निश्चित करने में उन्होंने बहुत प्रयास किया है और मैं आपको विश्वास दिलाता हूं कि यदि आपने मार्गदर्शन और वार्ताओं का सावधानी से अनुसरण किया तो आपको इस समय ही नहीं, भविष्य के लिये भी असीम लाभ होगा।

सेवा में नए आने वाले अधिकारियों की स्थिति वकालत के अपने भूतपूर्व साथियों की अपेक्षा स्पष्टतः लाभपूर्ण है क्योंकि आपको इस संस्थान में एक बड़ा सक्षम प्रशिक्षण पाठ्यक्रम मिल रहा है। आपके समक्ष विधि के विभिन्न विषयों पर वार्तायें होने के अतिरिक्त आपको उस प्रक्रिया की गम्भीर जानकारी हो जाएगी जिसका अनुसरण किया जाना है, विशेषतः उस समय जब आप न्यायालय में पीठासीन हों। सिविल प्रक्रिया संहिता या दण्ड प्रक्रिया संहिता की सामान्य जानकारी से ही आप सक्षम न्यायाधीश नहीं हो जाते। यदि आपने सामान्य नियमावली (सिविल)[2] व सामान्य नियमावली (दाण्डिक)[3] नहीं पढ़ी है तो आप न्यायालय की कार्यवाही का संचालन दक्षता से नहीं कर पाएंगे। आपको साक्ष्य विधि की स्पष्ट जानकारी और पकड़ होनी चाहिये। अतः आपको यह सारा कानून पढ़ना चाहिये। मैं जिस बात पर जोर देना चाहता हूं वह यह है कि जब तक आपको प्रक्रिया की भी ठीक जानकारी न हो तब तक मुकदमे का निर्णय करने के लिये केवल विधि की जानकारी पर्याप्त नहीं होगी। साथ ही, मैं आपको एक विषय से सावधान करना चाहता हूं। वर्तमान परिस्थितियों में इस संस्थान में दिया जाने वाला प्रशिक्षण केवल न्यूनतम है। सारे राज्य में मुंसिफों की बहुत कमी है। ऐसी दशा में इस समय हम चार मास का नियमित पाठ्यक्रम पूरा नहीं कर सकते। अतः वह घटाकर दो मास का कर दिया गया है। सम्भवतः आप इस वर्ष दिसम्बर में मुंसिफों के रूप में कार्य करना प्रारम्भ कर देंगे। वर्तमान प्रशिक्षण पाठ्यक्रम न स्वतः पूर्ण है और न पर्याप्त। न्यायिक अधिकारियों के लिये प्रत्येक दशक में कम से कम एक बार पुनश्चर्या पाठ्यक्रम[1] होना चाहिये।

---

2. General Rules (Civil) 3. General Rules (Criminal).

1. Refresher course.

सज्जनों ! राज्य की न्यायिक सेवा भारत के किसी भी भाग में सर्वाधिक वांछनीय सेवाओं में से है। आपकी सेवा में वे आर्थिक परिलब्धियां भले ही न हों जो कार्यपालिका शाखा के अधिकारियों, इंजीनियरों या डाक्टरों तथा अन्य व्यक्तियों को उपलब्ध होती हैं। यह भी सही है कि वे जनता के सामने अधिक प्रकाश में आयेंगे। अनेक मामलों में उन्हें प्राथमिकता मिलेगी। किन्तु आपको स्मरण रखना चाहिए कि आपने इस सेवा की कठिनाइयों और उसकी शर्तों को जानते हुये यह सेवा चुनी है। आपकी सेवा में काम के घण्टे समग्र दिन के नहीं होते और न आपसे यह अपेक्षा की जाती है कि जब भी कोई विशिष्ट व्यक्ति आये, आप उसकी हाजिरी दें। आपकी सेवा की अपेक्षा यह है कि आप समाज के सभी महत्वपूर्ण व्यक्तियों से अलग रहें; विशेषतः उनसे जो आपके सामने न्यायालय में आने वाले हों। आपसे यह आशा नहीं की जाती कि आप किसी के भी अत्यधिक घनिष्ठ हों; और न आपसे यह आशा की जाती है कि आप उन व्यक्तियों से सहायता की याचना करें जो या तो आपके यहां वकालत कर रहे हैं या जिन्हें आपके समक्ष आने का अवसर हो सकता है। टेलीफोन, कार या जीप आपको देने का प्रश्न ही नहीं उठता। ये सेवाएं उन लोगों के लिए हैं जिनसे चौबीस घण्टे सेवा की आशा की जाती है। आपके कार्य के लिए वाञ्छनीय है कि आप विधि का अध्ययन करें, अधिवक्ताओं को सुनें, निर्णय लिखें और विहित समय के भीतर सुनाएं तथा कम से कम उतना कार्य अवश्य करें जितने की आपसे अपेक्षा है।

मैंने अभी बताया था कि आपकी सेवा एक विख्यात सेवा है। अतीत में इसमें महान् न्यायाधीश और विधिज्ञ हुए हैं। आपकी सेवा से इलाहाबाद उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में सर्वप्रथम नियुक्त भारतीय न्यायाधीश दिवंगत **न्यायमूर्ति महमूद** थे। कितना प्रख्यात है उनका नाम ! यदि आज भी आप उनके निर्णय पढ़ें तो पाएंगे कि सारे निर्णय में चिन्तन कितना स्पष्ट है। भाषा कितनी स्पष्टार्थ और सरल है। विधि-विश्लेषण, ऐसी भाषा में होते हुए भी जो उनकी मातृभाषा नहीं थी, अनूठा है। उच्च न्यायालय के एक अन्य प्रतिष्ठित न्यायाधीश थे **सर प्रमोद चरण बनर्जी**। वे भी आपकी सेवा से ही थे। वे 29 वर्ष पर्यन्त उच्च न्यायालय के न्यायाधीश रहे और उन जैसे व्यक्तियों ने ही न्याय-पालिका का ख्याति-स्तम्भ स्थापित किया। आपकी सेवा से अन्य अनेक महानुभाव आए जिनके नाम आज भी बड़े विस्मय और सम्मान से लिए जाते हैं। **सर लाल गोपाल मुकर्जी** काफी समय तक कार्यकारी मुख्य न्यायाधीश रहे। सम्पत्ति अंतरण विषयक विधि के वे अधिकारी विद्वान् थे। हाल में भी उच्च न्यायालय में अनेक

प्रसिद्ध न्यायाधीश हुए हैं। हम उनमें से कुछ ही नाम गिनाते हैं। **न्यायमूर्ति श्री अम्बिका प्रसाद श्रीवास्तव** इस बात के उत्कृष्ट उदाहरण थे कि कि न्यायिक अधिकारी को कैसा होना चाहिए। उन्हें सिविल और दाण्डिक दोनों विधियों का गम्भीर ज्ञान था और उच्च न्यायालय में आने के बाद वे सांविधानिक विधि का ज्ञान भी अर्जित करके उसमें भी पारगत हो गए। जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में ही उन्होंने निर्णय नोट करते रहने की प्रक्रिया अपना ली थी। वे उन्हें बराबर अद्यतन करते रहे। उच्च न्यायालय में आते तक उनके पास चार-पांच मोटी-मोटी सजिल्द पुस्तिकाएं हो गई थीं, जिनमें विषय-क्रम से नोट थे। वस्तुतः उन्होंने अपना एक डाइजेस्ट (संदर्भ संग्रह) बना रखा था। कितनी महान् उपलब्धि थी वह! किसी भी विषय पर सुसंगत निर्णय क्षण भर में निकाल सकते थे। एक अन्य महान् न्यायाधीश थे **न्यायमूर्ति श्री बृजमोहन लाल**। प्रक्रिया का उन्हें गंभीर ज्ञान था, जिसमें वह त्रुटि नहीं कर सकते थे। उन्हें सिविल और दाण्डिक दोनों मामलों का ही दीर्घ अनुभव था। वह बड़े मृदु-भाषी थे। उनके मुख से निकला विधि का सिद्धांत प्रायः उस विषय की चरम उक्ति होता था।

वर्तमान में भी आपकी सेवा के अनेक प्रसिद्ध सदस्य मेरे सहयोगी रहे हैं। उनके नाम लेना या उनके लिए विशिष्टतः कुछ कहना उचित नहीं होगा। किन्तु मैं यह अवश्य कहूंगा कि आपकी सेवा में उत्कृष्ट न्यायाधीश हुऐ हैं और अब भी हो रहे हैं; यद्यपि कुछ समय से मैंने स्तर में स्पष्ट गिरावट पाई है। उस गिरावट के अनेक कारण हो सकते हैं। हो सकता है कि उसका कारण मुख्यतः ज्येष्ठता के आधार पर प्रोन्नति हो; या ज्ञान की कमी भी हो सकता है। जो भी कारण हो, प्रवृत्ति स्पष्ट है और यदि इस प्रवृत्ति को तुरन्त रोका नहीं गया तो स्थिति बिगड़ती जाएगी और फिर आपकी सेवा एक न्यायाभिमुख सेवा होने की बजाय स्वार्थाभिमुख सेवा रह जाएगी। सज्जनो! जब भी ऐसा होगा तो आपकी सेवा भी उतनी ही खराब हो जाएगी जितनी कोई अन्य सेवा। मैं आपको याद दिला दूं कि आपको एक सिद्धान्त की सेवा करनी है। आपको न्याय, निष्पक्षता और अपने समक्ष के मुकदमों के शीघ्र निस्तारण को अपने में साकार करना है। अन्य सेवाओं के सदस्य जो कार्य करते हैं वह दृश्यमान् होता है। जैसे कि डाक्टर रोगियों की सेवा करते हैं और औषधियों या शल्य-क्रिया द्वारा उनका उपचार करने का प्रयास करते हैं। इंजी- नियर निर्माण और सृजन का कार्य करते हैं। सज्जनों! आप जो सेवा करते हैं वह उतनी दृश्यमान नहीं होती, क्योंकि आप शांतिपूर्वक कार्य करते रहते हैं, न कि आत्मश्लाघा के साथ। आपको अपने कृत्य-

सम्पादन का विज्ञापन नहीं करना है, और न आपको सस्ती शोहरत अर्जित करने के लिए जन-सम्पर्क करना है।

आपके मस्तिष्क और अन्तःकरण के गुणों से ही–आपके धैर्य, आपके विधि विषयक गम्भीर ज्ञान, आपके त्वरित और न्यायपूर्ण निर्णय से ही – सेवा की समग्र रूप से ख्याति बनती है, और यह सेवा राज्य की जनता की एक बड़ी महत्वपूर्ण सेवा करती है। आप उनके विवाद निपटाते हैं। आप व्यक्तियों के बीच ही नहीं अपितु नागरिक और राज्य के बीच विवाद भी निपटाते हैं। सज्जनों ! राज्य की जनता द्वारा आप में निहित आस्था के आप न्यासधारी[1] हैं। आप ऐसा कुछ नहीं कर सकते जिससे न्यासभंग[2] हो। जिस दिन जनता जानेगी कि अमुक अधिकारी अविश्वसनीय है, या निष्पक्ष और न्यायी नहीं है, उनकी आपमें आस्था डिग जायेगी तथा साथ ही आपकी इस सेवा में भी आस्था समाप्त हो जाएगी। जिस दिन राज्य की जनता यह अनुभव करेगी कि निर्णय असर द्वारा या खरीद करके प्राप्त किया जा सकता है, सज्जनों ! वह दिन आप में आस्था की इतिश्री का होगा। न्यायिक अधिकारी का इससे अधिक अपमान नहीं हो सकता कि कहा जाए कि वह ईमानदार नहीं है। आपका कृत्य-सम्पादन दोष-विहीन होना चाहिए तथा आपका आचरण सदैव स्वच्छ होना चाहिए। ये आपकी सेवा के आवश्यक गुण हैं। न्यायालय के भीतर और बाहर आपका आचरण सुप्रतिष्ठित नियमों और मानदण्डों के अनुसार होना चाहिए। यह कभी न भूलें कि आप न्यायाधीश हैं। आपको जनसाधारण से विलग रहना चाहिए। आपने विश्वविद्यालय या महाविद्यालय में छात्र नेता होने के नाते जो भी किया हो, इस सेवा में आकर आप वह मार्ग नहीं अपना सकते। आप को ऐसे सारे आचरण को तिलांजलि दे देनी होगी जिससे आपकी तथा सेवा की बदनामी हो।

सज्जनों ! एक प्रचलित और अनेक बार दोहराई जाने वाली उक्ति है कि न्याय किया ही नहीं जाना चाहिए अपितु यह भी प्रकट होना चाहिए कि न्याय किया गया। इसका अर्थ यह हुआ कि आपका निर्णय न्यायपूर्ण और निष्पक्ष होने के अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि वह न्यायपूर्ण और निष्पक्ष ढंग और प्रक्रिया से किया जाए। दूसरे शब्दों में, निर्णय तक की सारी कार्यवाही न्यायपूर्ण और निष्पक्ष होनी चाहिए। इसे आत्मसात् करके अपनी कार्यशैली का अंग बनाएं। मुझे विश्वास है कि यदि आप इस सिद्धान्त का पालन करेंगे तो जीवन में सफल होंगे और बड़े अच्छे तथा दक्ष अधिकारी समझे जाएंगे।

---

1. Trustee. 2. Breach of trust

शासन को धन्यवाद है कि आपकी सेवा की परिलब्धियां बढ़ गई हैं। फिरभी नित्य-प्रति बढ़ती महंगाई के कारण ये परिलब्धियां भी अपर्याप्त लग सकती है। मैं आपको विश्वास दिलाता हूं कि उच्च न्यायालय और शासन दोनों ही इस विषय में जागरूक हैं। किन्तु बेहतर परिलब्धियों की तलाश में हम इस बात को न भूल जाएं कि राज्य शासन को भी अधिक कठिनाई होती है।

सज्जनों ! अब मैं एक अन्य विषय पर आता हूं, जिस पर मुझे आपसे कुछ कहना है। भारत में विधि शिक्षा अपर्याप्त है तथा सुनियोजित ढंग से भी नहीं दी जाती। वैसे भी विधि की शिक्षा कभी किसी महाविद्यालय या विश्वविद्यालय में पूरी नहीं हो सकती। वह तो दिनानुदिन चलती रहती है। आप अधिवक्ता हों या न्यायाधीश वह आजीवन चलेगी। आपको चाहिए कि प्रतिदिन कोई समय नियत कर लें जिससे आप विधि का अध्ययन करें तथा उच्च न्यायालय और उच्चतम न्यायालय के नवीनतम निर्णयों से अवगत होते रहें। नजीरों को पढ़ना ही नहीं है, अपितु उन्हें हृदयागंम भी करना है। हो सकता है कि कोई नजीर बाद की दूसरी नजीर द्वारा अतिष्ठित कर दी जाए। किन्तु आपको दोनों याद रखनी चाहिए। यह अवश्य है कि प्रत्येक बात याद नहीं रखी जा सकती। सज्जनों! याद रखिये कि मानव मस्तिष्क सर्वाधिक सम्पन्न कम्प्यूटर है। यही नहीं, वह ऐसा कार्य भी कर सकता है जो कम्प्यूटर जरा भी नहीं कर सकता। जो मस्तिष्क तुरन्त प्रस्तुत की जा सकने वाली सामग्री से पूर्ण हो, वह सामने आने वाले विषयों को निपटाने के लिए अधिक सक्षम होता है। चाहे कोई अधिवक्ता हो या न्यायाधीश, उसे चाहिए कि मामले के तथ्यों और परिस्थितियों के अनुसार सही विधि लागू करें, और यह तभी हो सकता है जबकि व्यक्ति को उस प्रश्न विषयक विधि स्पष्ट हो।

अतः आपसे मेरा अनुरोध है कि नियमित रूप से विधि पत्रिकाएँ पढ़ने का अभ्यास बनाएँ और निर्णय विधि[1] का स्वयं अपना डाइजेस्ट रखें। अपने सेवाकाल के आगामी लगभग तीस वर्षों में आप उसे सुलभ ही नहीं उपयोगी भी पाएंगे। नवीनतम नजीरें आपकी जबान पर रहेंगी तथा आपको यह योग्यता आपके न्यायकार्य में सहायक होगी, उसी प्रकार से जैसे कि किसी कारीगर के अच्छी दशा में रखे गये औजार सहायक होते हैं।

1. Case law.

मैं आपको और भी सलाह दे सकता हूं। किन्तु मुझे वह आवश्यक नहीं लगता। अब मैं एक प्राचीन संस्कृत कृति मृच्छकटिक का एक अंश दोहराता हूं जिसमें न्यायाधीश के लक्षण इस प्रकार स्पष्ट तौर पर बताये गये हैं :

"न्यायाधीश को विधि का गम्भीर ज्ञान होना चाहिये, उसे छल-कपट पकड़ने में दक्ष और बोलने में समर्थ होना चाहिये। उसे कभी क्रोध नहीं करना चाहिये तथा मित्र-सम्बन्धियों और बाहरी व्यक्तियों के प्रति समान व्यवहार रखना चाहिये। उसे अपना निर्णय वास्तविकताओं की परीक्षा करके देना चाहिये। उसे नैतिकता का पालन करना चाहिये और लोभ से ग्रस्त नहीं होना चाहिये। साथ ही उसे इतना सबल होना चाहिये कि निर्बल की रक्षा कर सके तथा अपराधियों के हृदय में भय उत्पन्न कर सके।"

ये गुण आज भी मान्य हैं और अपनाए जाने चाहिये। आपके पुरातन ऋषि महात्मा दो हजार वर्ष पूर्व और उससे भी पहले इन आदर्शों को मानते थे। आप उनके उस समय के स्तर की कल्पना भलीभांति कर सकते हैं। हम उनसे पीछे क्यों रहें! यदि हम उनके द्वारा बताई गई उपर्युक्त बातों पर आचरण करें तो हम भी वह उच्च स्तर प्राप्त कर सकते हैं। उस संदर्भ में आप से यह स्मरण रखने को कहूंगा कि आप अपनी वृत्ति[1] को जीविका का साधन मात्र न समझें, बल्कि न्याय को अग्रसर करने का अवसर समझें।

सज्जनों! मैंने आज आपका बहुत समय लिया। किन्तु आपसे मिलकर तथा बातकर मुझे बहुत आनन्द आया। मुझे आशा है कि आप में से कुछ लोग सीढ़ियां चढ़ते हुये उच्चतम स्थल पर पहुंच जायेंगे और कुछ न्याय-व्यवस्था की उच्चतम कक्षा को सुशोभित करेंगे। मैं आपके सुन्दरतम जीवन की कामना करता हूं। सेवा की उच्चतम उपलब्धि आप की हो! आप में से प्रत्येक से आशा करता हूं कि आप अपने को राज्य की न्यायिक सेवा के योग्य सिद्ध करेंगे।

देवियों और सज्जनों, इस संध्या में यहां आने के लिये मैं आपको धन्यवाद देता हूं।

---

1. Profession.

मैं आपसे यह भी अनुरोध करूंगा कि आप उच्च न्यायालय तथा उच्चतम न्यायालय के न्यायधीशों द्वारा दिये गये अतिप्रसिद्ध निर्णयों को पढ़ें मेरा यह भी अनुरोध है कि प्रसिद्ध न्यायधीशों और विधिज्ञों के कुछ अन्य लेख भी पढ़ें। दो नाम मुझे स्मरण आते हैं। **मुख्य न्यायमूर्ति श्री छागला** की पुस्तक "रोजेज इन डिसेम्बर" बहुत पठनीय है। उसमें आपको उच्च न्यायालय में अनुसरण की जाने वाली प्रक्रियाओं का रोचक वर्णन मिलेगा तथा उससे न्यायालय की गरिमा का और वृत्तिक नैतिकता[1] का भी ज्ञान होगा। **लार्ड डेनिंग** की "द्यू प्रोसेस आफ लॉ" तथा "डिसिप्लिन ऑफ लॉ" भी पठनीय है। आप पायेंगे कि उनकी भाषा इतनी सरल एवं मनोहारी है कि आप पढ़ते ही जाना चाहेंगे। उच्चतम न्यायालय के प्रसिद्ध न्यायाधीशों के निर्णय आपको पढ़ने ही होंगे। वे आपके समक्ष बार-बार प्रस्तुत किये जायेंगे। आप स्वयं पायेंगे कि इन निर्णयों में कितना अमूल्य भण्डार भरा है, कठिन विषयों पर विधि की उत्तम एवं विशद व्याख्या, और वह भी सरल भाषा में।

आप निकट भविष्य में अपना प्रशिक्षण पूरा करके दिसम्बर में नया पदभार सभालेंगे। सलाह के रूप में मुझे आप से कुछ बातें कहनी हैं। मुझे विश्वास है कि आप उनसे लाभ उठायेंगे। **प्रथमतः**, अपने कार्य के विषय में समय का पालन करें। नियत समय पर न्यायालय में बैठें और नियत समय पर ही उठें। यह धारणा न बनने दें कि आप न्यायालय के समय का पालन नहीं करते या काम से बचते हैं। **द्वितीयतः**, आप अपने ज्येष्ठ सहयोगियों के प्रति आदरभाव रखें। आप उनसे बहुत कुछ सीख सकेंगे। ऐसा भी हो सकता है कि वे आपके निर्णय उलट दें। उस दशा में उचित यह होगा कि आप उनके निर्णय पढ़ें जिससे पता लगे कि आपने कहां गलती की थी। इससे आप भूल-सुधार कर लेंगे और वही गलती दोहरायेंगे नहीं। शनैः शनैः सामान्यक्रम में जानकार व्यक्ति आपके गम्भीर विधि-ज्ञान की प्रशंसा करेंगे। उत्तरोत्तर ख्याति अर्जित करते जाना तात्कालिक उपायों से बेहतर है। **तृतीयतः**, अपना निर्णय शीघ्रता से दें। अर्थात् उस समय के भीतर दें जो नियमों में अनुमत है (सिवाय आपवादिक स्थितियों के जब कभी किसी कारण से निर्णय में विलम्ब अपरिहार्य हो जाये) इससे आपकी ख्याति बढ़ेगी। स्मरण रखें कि एक बार निर्णय सुना देने के बाद वह सार्वजनिक संपत्ति हो जाता है। अतः अपना निर्णय न्यायालय में सुनाने के पहले उसे पढ़ें और पुनः पढ़ें। कभी ऐसी मूर्खतापूर्ण भूलें हो जाती हैं जो एक बार पढ़ने में छूट जाती हैं और दूसरी बार पढ़ने में ही प्रकट होती हैं।

---

1. Professional ethics.

न्यायिक स्वभाव

—न्यायमूर्ति श्री हरिस्वरूप

न्यायालयों की वास्तविक कार्यशैली सिनेमा के पर्दे पर दिखाए गए सनसनीदार न्यायालय प्रसंगों से बिल्कुल भिन्न होती है। हर क्षण किसी न किसी समस्या, संदेह, अन्वेषण[1], परीक्षा या संवीक्षा[2] का क्षण होता है, और अंत में क्षण आता है निर्णय सुनाने का, जिसके गलत हो जाने की भी जोखिम रहती है। जहाँ तक न्यायाधीश का सम्बन्ध है, उसके लिए उस घटना-क्रम में रोमांच का कोई अवसर नहीं होता। हमारा यह तात्पर्य नहीं है कि न्यायालय में कौंध कभी नहीं होती है, किन्तु इतनी दबी-ढकी कि उसकी दीप्ति अपने में ही छिपी रहती है। वहाँ हाजिर-जवाबी व नर्मोक्तियों के अतिरिक्त ऐसी बहसें भी होती हैं जिनसे न्यायाधीश के धैर्य की परीक्षा होती रहती है। ऐसे अवसर आते हैं कि न्यायिक अधिकारी यदि बुद्धिमत्ता और युक्ति के साथ कार्य न करे तो वह जाल में फंस जाता है—उत्तेजित होकर अपना न्यायिक संतुलन खो बैठता है।

संभवतः न्यायालय में होने वाला तनाव ही न्यायिक अधिकारी का सबसे बड़ा शत्रु है। और सच मानिए, उससे बचना सदैव सरल नहीं होता। न्यायिक स्वभाव बनाए रखना सीखने के लिए आपको बहुत धैर्य की आवश्यकता होगी। किन्तु यदि आप अनवरत जागरूकता के साथ प्रयत्नशील रहे तो निश्चय ही सफल होंगे।

यदि आपके मन पर दबाव हो तो आप दक्षता से कार्य नहीं कर सकते। दबाव या तनाव से आपकी दक्षता का दुष्प्रभावित होना अवश्यंभावी है। न्यायाधीश के उत्तेजित होने से ही उसका व्यवहार दुष्प्रभावित हो सकता है। यदि उसके स्नायु तनावग्रस्त हो गए तो उसके सोचने-समझने की शक्ति बाधित हो जाती है। और बाधित मनःशक्ति लेकर न्याय नहीं किया जा सकता। भले ही अंतिम निर्णय उससे प्रभावित न हो, किन्तु लोगों को ऐसा नहीं लगेगा। आप जानते हैं कि न्यायालय के लिए इतना पर्याप्त नहीं है कि न्याय करे, बल्कि यह भी आवश्यक है कि यह प्रतीत हो कि न्याय किया गया। न्यायाधीश को तनाव

---

1. Inveestigation. 2. Scrutiny.

या दबाव से ग्रस्त दिखना भी नहीं चाहिए। उसकी मुद्रा हमेशा शांत और गंभीर होनी चाहिए।

अपराध से स्वतंत्रता विषयक अपनी पुस्तक 'फ्रीडम फ्राम क्राइम" में रोजर ह्लेन लेम्फियर ने लिखा है कि हमारे शरीर में तनाव अनुपचारित क्षति की भांति होता है। वह रासायनिक असंतुलन का रूप ग्रहण कर सकता है, या दबी हुई नस की भांति बन सकता है, या हारमोनों के असंतुलन का रूप ग्रहण कर सकता है। हर दशा में वह किसी असमान्यता के रूप में होगा। उसके फलस्वरूप प्रभावित व्यक्ति के शरीर या स्नायुतंत्र श्रेष्ठ रूप से कार्य न कर पाएंगे। वह उस प्रकार से कार्य करने से वंचित हो जायेगा जिसके लिए वह बनाया गया है। तनाव की हालत में हमारा स्वास्थ्य गिर सकता है; हमारे मस्तिष्क की कार्य करने की क्षमता में कमी आ सकती है; या हमारा व्यवहार भी बदल सकता है। उससे न्यायालय में न्याय प्रदान करने में भी बाधा आ सकती है।

मस्तिष्क में तनाव होने से व्यक्ति पूरी मानसिक और शारीरिक सामर्थ्य का उपयोग करने से वंचित हो जाता है। परिणामस्वरूप वह उद्देश्य-प्राप्ति के छोटे मार्ग ढूंढने लगता है। न्यायाधीश का उद्देश्य अपने समक्ष के मामले में निर्णय देना होता है। यदि उस तक पहुंचने के लिए वह कोई छोटी प्रक्रिया निकाले तो उससे न्याय की हानि ही होगी।

स्नायुतंत्र पर अधिक दबाव होने से एक प्राथमिक प्रतिक्रिया होती है, जो चिन्ता की अनुभूति का रूप ग्रहण करती है। हम सब ने कभी न कभी उसे अनुभव किया है। मुकदमा समाप्त करने की चिन्ता व्यक्ति के मन में बस कर भीतर ही भीतर कुरेदती रहती है और उसके कारण वह उद्देश्य-प्राप्ति के न्यायिकत: स्वीकृत सामान्य सिद्धांतों की उपेक्षा कर देता है। उदाहरणार्थ, यदि वकील साक्षी से लम्बी जिरह करता है और विसंगत सवाल पूछता चला जाता है तो यह स्वाभाविक है कि मजिस्ट्रेट को लगेगा कि समय का उचित उपयोग नहीं हो रहा है और उसे इस बात की चिन्ता हो सकती है कि इस प्रकार कोटा कैसे पूरा होगा। उसकी दृष्टि अपनी लम्बी बाद-सूची पर भी जायेगी। उससे उसके मन में एक दुःखात्मक अनुभूति हो सकती है। इसी अनुभूति को हम "चिन्ता" कहते हैं। यदि उसको समय रहते रोका या नियंत्रित किया नहीं

गया तो वह बढ़कर ऐसा रूप ग्रहण कर लेगी जिसे मनोवैज्ञानिक खिचाव[1] कहते हैं।

इस मनः स्थिति का मूल कारण यह है कि मस्तिष्क इस बात की तीव्र प्रेरणा के अधीन हो जाता है कि मुकद्दमा जल्दी समाप्त करे, उतने समय के भीतर समाप्त करे जितना कि न्यायाधीश समझता है कि उसमें लगना चाहिये। किन्तु परिस्थितियां उसे उतने समय के भीतर कार्य पूरा करने नहीं देती। उसे उद्देश्य अप्राप्य लगता है, जिससे उसका मन कुंठा-ग्रस्त हो जाता है, और फिर उससे खिचाव उत्पन्न होता है। यह इस प्रकार के खिचाव का मामला है जो समय के कारण उत्पन्न होता है। समय इस प्रकार के खिचाव की प्रकृति का सार होता है। उससे उदासी, विरोध की भावना और भाषा की तीक्ष्णता भी आ सकती है न्यायिक अधिकारियों को चाहिये कि ऐसा कभी न होने दें। जो अपरिहार्य[2] है उससे लड़ने का प्रयत्न उसे नहीं करना चाहिये। स्थिति की वास्तविकता उसे स्वीकार करनी चाहिये। यदि अधिक समय अपेक्षित है तो दें। समय दे देना बेहतर है, बजाय इसके कि खिचाव की पीड़ा सहनी पड़े। समय उतना मूल्यवान् नहीं है। आधे घण्टे रोज अधिक कार्य करने से समय पूरा हो जाएगा। अनुभव के साथ आप निश्चय ही सीख जायेंगे कि कार्यवाही पर नियंत्रण कैसे रखा जाये। उसकी बाबत अपने कार्यकाल के प्रारंभ में ही चिन्तित न हों। घटनाक्रम को चलने दें। अधिवक्ताओं को समय लगाने दें। साक्षियों को उनकी गति से चलने दें। यदि आप इन बातों को शांत भाव से लेंगे तो आप खिचाव से बच जायेंगे।

यदि समय की गणना करके देखें तो भी अंततोगत्वा आप घाटे में नहीं रहेंगे, क्योंकि खिचाव और दक्षता एक दूसरे के विरोधी होते हैं। जितना ही खिचाव अधिक होगा दक्षता उतनी ही कम होगी। विपर्ययेन[3] भी सही है।

डा. हैरल्ड एच. ब्लूमफील्ड कहते हैं कि यद्यपि खिचाव के कारण से व्यक्तियों के जीवन में तनाव बढ़ता है उसकी मनोवैज्ञानिक प्रकृति समझने से स्वास्थ्य और उद्देश्य-प्राप्ति के नवीनतम सिद्धान्त सामने आ जाते हैं। भौतिक सुविधाओं और उपलब्धियों से कुछ संतोष होता है। किन्तु मनुष्य के शरीर और मन की स्थिति पर ही उसके अनुभव की सामान्य रूप से मात्रा निर्भर होती है। यदि खिचाव से व्यक्ति के दिन-प्रतिदिन के कार्य चिन्ता और असंतोष से ग्रस्त हो

1. Stress. 2. Unavoidable. 3. Vice versa.

वे अभ्यासवश कह गए "जी श्रीमान्"। और फिर वे उस प्रस्थापना[2] को छोड़ कर दूसरी बात पर आ गए।

जब कोई अधिवक्ता ऐसी बहस करना चाहता है जिससे आप अपने को सहमत नहीं पाते, तो बेहतर यह है कि चुप रहें। उनसे बहस करने का प्रयत्न न करें। आप उनसे कभी भी नहीं मनवा पाएंगे क्योंकि वह न्यायालय में आपसे मनवाने आते हैं, न कि स्वयं मानने के लिए। और फिर, आप ऐसा करें भी क्यों? यह आवश्यक भी तो नहीं है। बहस-मुबाहिसे और उससे होने वाले तनाव से बचने के लिए बेहतर यही है कि अधिवक्ताओं से बहस में न उलझें। बहस विसंगत होने पर भी बेहतर यही है कि उसे चुपचाप सुन लिया जाए। उससे आपका कुछ समय अवश्य नष्ट होगा; किन्तु यदि आप अधिवक्ता से बहस में उलझे तो आपका समय भी अधिक व्यय होगा और स्वयं आप परेशानी और तनाव में आजाएंगे।

साथ ही यह न भूलें कि यदि अधिवक्तागण आपके लिए सर्वाधिक तनाव उत्पन्न करने वाले हैं, तो साथ ही वे आपके सर्वोत्तम मित्र भी हैं। यदि आप ठीक से व्यवहार करेंगे तो वे आपको कठिन समस्याओं के समाधान में सहायता देंगे। वे आपको सही तथ्य और सही विधि बताएंगे, यद्यपि वे तथ्यों को तोड़ मरोड़ सकते हैं और भ्रामक नजीरों का हवाला दे सकते हैं। एक ओर तो आपको उनका मार्ग दर्शन स्वीकार करना होगा और दूसरी ओर बराबर सतर्क रहना होगा। वे चाहेंगे कि उनके बताए गए तथ्यों की समीक्षा करने और विधि समझने के लिए आप तैयार और सक्षम हों। आपको तथ्यों की छानबीन और विश्लेषण करने की कला सीखनी होगी। आपको विधिपर भी अधिकार पाना होगा। अपने को अधिकाधिक सक्षम बनाकर ही आप चुनौतियों का सामना कर सकेंगे। यदि आप असफल होते हैं तो आप ऐसी स्थिति में पहुच जाएंगे जिसमें आपको क्षोभ और तनाव ही हो सकता है।

आप चुनौतियों का सामना तभी कर सकेंगे जब अपने में यह विश्वास विकसित कर लें कि आप विधि के अनुसार न्याय करने में सक्षम हैं। यह विश्वास विधि के गंभीर ज्ञान से ही आ सकता है। न कोई पूर्ण होता है, और न कोई सब कुछ जान सकता है। किन्तु यह संभव है कि कानूनों और निर्णयों का अधिकाधिक ज्ञान प्राप्त करके क्रमशः आत्मविश्वास विकसित किया जाए। निर्णयों का अपना डाइजेस्ट बनाने का अभ्यास बहुत सुन्दर होगा। उससे आप

2. Proposition.

दृष्टा और नियंत्रक के रूप में कार्य करना चाहिए। नाटक की भूमिकाएं अभियुक्त, अभियोगी, वादी, प्रतिवादी और उनके अधिवक्ताओं के लिए छोड़ देनी चाहिए। आप केवल उसका आनन्द लें, मूल्यांकन करें और नियंत्रण रखें। सीधी बात यह है कि आपको आवेगों पर नियंत्रण रखना चाहिए, न कि उनका शिकार होना चाहिए।

किन्तु आप अपने में कोई अतिमानवीय गुण दिखाने का भी प्रयत्न न करें। यदि आप ऐसा करेंगे तो पाखण्डी समझे जायेंगे। आप जो हैं वही रहें। अपना नैतिक स्वभाव बनाए रखें। न तो हीन भावना से ग्रस्त हों, और न वरिष्ठता की भावना से। सभी मनोग्रंथियां[1] खराब होती हैं। वे व्यक्ति की वास्तविक प्रकृति को छिपाकर उस पर एक कृत्रिम रंग चढ़ा देती हैं, जिससे उसे हानि ही हो सकती है। यदि हीन भावना मनुष्य को अत्यधिक करने को प्रेरित करती है तो वरिष्ठता की भावना उसे स्वयं कार्य करने से रोकती है। दोनों ही दशाओं में आपके लिए हानि है।

आक्रामक भी न बनें। आक्रामकता से दूसरी ओर भी आक्रामकता ही उत्पन्न होती है। उससे विरोध उत्पन्न होता है। उससे रुष्ट होकर दूसरे लोग बदला लेने का प्रयत्न करेंगे, और बदले से आपको आघात लगेगा तथा आप अपना मानसिक संतुलन खो देंगे। इस प्रकार आप सारा वातावरण बिगाड़ देंगे। जो व्यक्ति आपके अहम् को जानबूझकर या अनजाने में चोट पहुंचाना चाहते हैं उनके आक्रामक रवैये से बचने के लिए आपको आवश्यकता मृदुल व्यवहार रखने की है।

बहुत बार आपको अरुचिकर बहस सुननी पड़ेगी, जो विसंगत, अमान्य और अर्थशून्य होगी। किन्तु आपको यह सब सहन करना पड़ेगा। वारेन हेस्टिंग्स पर महाभियोग चला रहे एडमण्ड बर्क के भाषण वाली गंभीरता के साथ अधिवक्ता बहुधा आपके समक्ष ऐसे निर्णयों का हवाला देंगे जो असंगत नहीं हैं और ऐसी बात करेंगे जो बिल्कुल नहीं बैठती। तब आपको केवल यह करना है कि उनसे पूछें "और कुछ ?" एक अवसर पर एक कनिष्ठ अधिवक्ता एक अमान्य सिद्धान्त प्रतपादित कर रहे थे और उसके समर्थन में न किसी कानून का उल्लेख कर रहे थे और न किसी नजीर का। उन्हें कुछ समय तक सुनने के बाद मैंने उनसे कहा कि इस बात की कोई उपधारणा[2] नहीं होती कि न्यायाधीश विधि जानता है, अतः आप इस प्रश्न पर विधि दिखाइए।

1. Complexes. 2. Presumtion.

में आत्म-विश्वास आने के अतिरिक्त आप शीघ्र और सही निर्णय करने में समर्थ होंगे।

न्यायिक विश्वास अर्जित करने का एक तरीका है महान् व्यक्तियों के अनुसरण का। उच्चतर न्यायालयों के निर्णय पढ़ें, उनका विश्लेषण करें और प्रत्येक निर्णय का आधारभूत सिद्धान्त स्वयं पता लगाएं। फ्रांसिस बेकन के शब्दों में "न तो खण्डन करने की दृष्टि से पढ़ें और न आंख मींचकर मानने की दृष्टि से, बल्कि समीक्षा और विचार करने की दृष्टि से पढ़ें।" उच्चतर न्यायालयों के निर्णय मननपूर्वक आत्मसात् किए जाने चाहिए।

सर्वोपरि बात यह है कि अधिवक्ताओं तथा अन्य लोगों को सर्वाधिक नापसंद जो बात होती है वह है न्यायाधीश का पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोण। यदि लोगों को आप यह विश्वास या शंका करने का अवसर देंगे कि आप सभी के प्रति समान व्यवहार नहीं कर रहे है तो वे आप पर झपट पड़ेंगे, आपको दुःखी करेंगे, कठिनाइयां उत्पन्न करेंगे और आपके स्नायुतंत्र को झकझोर देंगे। अतः बराबर स्मरण रखें और दोहराएं कि न्याय अंधा होता है। जोजफ एडिसन ने एक बार कहा था कि न्याय मित्रता और रिश्तेदारी सबकी उपेक्षा करता है और इसीलिए वह अंधा दिखाया जाता है। यदि आप अपनी ऐसी ख्याति बना लेंगे कि आपके न्यायालय में निष्पक्ष न्याय किया जाता है तो आप न्यायालय में तनाव उत्पन्न करने वाले सबसे बड़े कारण से बच जाएंगे।

आप यह बात समझें कि न्याय-प्रशासन करते समय आप केवल वेतनभोगी के रूप में कार्य नहीं कर रहे हैं, बल्कि ऐसे व्यक्ति के रूप में कार्य कर रहे है जिसे महान् राष्ट्रीय सेवा करने के लिए नियुक्त किया गया है। आपको इसलिए चुना गया है कि आप नागरिकों के जीवन और स्वतंत्रता की रक्षा करें, जन-विधि का उल्लंघन करने वालों को दण्ड दें और लोगों से विधि के अनुसार आचरण कराए। जब एक बार आप अपने पद की वास्तविक, महानता अनुभव कर लेंगे तो आप उन छोटी-मोटी बातों से ऊपर उठ जाएंगे जो न्यायालय में होती रहती हैं और जो उन न्यायाधीशों को तंग करती हैं जो अपने कार्य की वास्तविक प्रकृति नहीं समझते।

किन्तु इसमें एक खतरा भी है जिससे हम आपको सावधान कर दें। यदि आप उक्त भाव अत्यधिक जगाएंगे तो आप घमण्डी और आत्मकेन्द्रित[1] हो जाएंगे

1. Egocentric.

उद्देश्य की महानता से आप में नम्रता आनी चाहिए, न कि घमण्ड; गरिमा आनी चाहिए, न कि उद्धतता; शिष्टता आनी चाहिए, न कि विज्ञापन। कोई मनुष्य त्रुटियों से परे नहीं होता, आप भी नहीं हो सकते। यदि आप यह स्मरण रखेंगे तो आप पाण्डित्य का प्रदर्शन नहीं करेंगे। आपका मस्तिष्क नए विचारों के लिए ग्रहणशील रहेगा। खुले मस्तिष्क में परेशानी कम उत्पन्न होती है।

मानसिक व्यवस्था और अनुशासन ही अन्त में विचारण न्यायालय के भीड़-भाड़ वाले वातावरण में न्यायाधीश की मानसिक संतुलन बनाए रखने में सहायता कर सकते हैं। न्यायालय का वातावरण न्यायाधीश के अपने व्यवहार के अनुसार बनता है। यदि वह शांत और संयत रहता है तो कोई भी बात उसका संतुलन नहीं बिगाड़ सकेगी। यदि वह क्रुद्ध और उत्तेजित रहेगा तो कोई भी बात उसे तनाव से नहीं बचा सकेगी। अधिवक्ता के रोष का सर्वोत्तम उत्तर मुक्त मुस्कान से दिया जा सकता है। अभियुक्त, साक्षी या वादकारी के प्रति उदार दृष्टिकोण से आप उन्हें अपने नियंत्रण में रख सकेंगे। यदि आप सज्जन वाला व्यवहार करेंगे तो उससे वे भी आपके प्रति उसी प्रकार का व्यवहार करेंगे। व्यवहार दर्पण की भाँति होता है, जिसमें व्यक्ति अपनी ही आकृति देखता है। अमरीकी सुप्रीम कोर्ट के न्यायमूर्ति श्री बर्जर ने कहा था कि ठीक से संचालित न्यायालयों में वकीलों के चिल्लाने और कलाबाजी दिखाने का कोई अवसर नहीं होता। योग्यतम न्यायाधीशों और वकीलों ने शताब्दियों के अनुभव से बताया है कि शिष्टाचार और व्यवहार के कुछ लगभग नियत नियम हैं, जो न्यायालय को ध्यान बटाने वाले व्यक्तिगत विवादों और विसंगत बातों से दूर रखकर ध्यान को प्रश्नगत बातों तक सीमित रखते हैं। जस्टिस बर्जर के ही शब्दों में, न्यायिक अधिकारी को सिलाईरहित वस्त्र की भाँति होना चाहिए जिससे कि विधि का ज्ञान, न्यायिक कौशल, वृत्तिक नैतिकता तथा न्यायलयीन शिष्टाचार और व्यवहार उसके व्यक्तित्व और कृत्य- सपादन के अभिन्न अंग हों।

आवश्यकता इस बात की है कि न्यायाधीश का मस्तिष्क बराबर प्रशिक्षित और अभ्यस्त किया जाये कि वह आघातों और व्यथित करने वाली बातों से अप्रभावित रहे।

सफल न्यायाधीश होने के लिए आपको बड़े पक्के स्नायु विकसित करने होंगे। आपको न्यायालय के भीतर और बाहर आलोचना का सामना करना

होगा। आपको स्नायु-युद्ध लड़ने और जीतने होंगे। और इसके लिए आपको अपने में एक सज्जन व्यक्तित्व का विकास करना होगा, जिसमें विधि का गंभीर ज्ञान, खुला एवं ग्रहणशील मस्तिष्क, न्यायिक दृष्टिकोण और भय, पक्षपात व रागद्वेष के बिना न्याय करने का अप्रतिरोध्य संकल्प समाहित हों।

और अब अंत में एपीक्यूरस की बात याद रखिए कि केवल न्यायशील व्यक्ति ही मानसिक शांति का उपभोग कर सकता है।

दो बातें

– न्यायमूर्ति श्री सतीश चन्द्र

संतुलन बनाये रखना :– आपके दिन-प्रतिदिन के काम में, विशेषत: प्रारम्भ में, बहुत सी स्थितियां आयेंगी जिनसे आप को क्षोभ होगा। ऐसी स्थितियां प्राय: अधिवक्ताओं, साक्षियों और कर्मचारिवृन्द द्वारा पैदा की जाती हैं। किन्तु यदि आप ऐसी स्थिति में अपना संतुलन खो बैठे तो भगवान् ही आपका मालिक होगा। इन दिनों अकसर वकील वर्ग व कर्मचारीगण विवादी मन: स्थिति में होते हैं। यदि आप क्रुद्ध हो गये, या आपने अत्यन्त शालीन भाषा से भिन्न भाषा का प्रयोग किया, तो आप परेशानी में पड़ जायेंगे। यह संतुलन अर्जित करना होता है। अनुभव के साथ आप भी अर्जित कर लेंगे।

आस्थिति[1] और भविष्य :– सज्जनों, आप न्यायिक सेवा में आ रहेहैं। सच मानिए, यह सेवा राज्य सेवाओं में सर्वोत्तम है। आपके काम के घण्टे नियत हैं, जो किसी अन्य सेवा में नहीं है। सेवा की परम्परा यही रही है कि काम पूरा किया और घर गये, और फिर पूरी स्वतन्त्रता है। आपसे यह आशा नहीं की जाती कि किसी ज्येष्ठ अधिकारी के, या उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के भी, आपके नगर में आने पर आप उसकी हाजिरी में रहें। ऐसी बात यहां सोची भी नहीं जानी चाहिये। आपकी प्रोन्नति के अवसर बहुत हैं। कुछ मामलों में वे किसी भी अन्य सेवा से बेहतर हैं। भारतीय प्रशासनिक सेवा का सदस्य अधिक से अधिक मुख्य सचिव होने की आकांक्षा रख सकता है, जो केवल एक ही पद है। न्यायिक सेवा में आप उच्च न्यायालय के न्यायाधीश तक हो सकते हैं, जिसके अनेक पद हैं, और आपको होना ही चाहिये। वह कहीं उच्चतर है। प्रतिनियुक्ति[2] के भी बहुत से पद हैं। उनका बढ़ना अवश्यंभावी है। मैं इस धारणा को दूर करना चाहता हूं कि न्यायिक सेवा द्वितीय कोटि की सेवा है। ऐसा बिल्कुल नहीं है।

विधि का ज्ञान :– एक बहुत पुरानी कहावत है कि विधि के अज्ञान की माफी नहो होती। वह आपने भी पढ़ी होगी। वह हर एक पर लागू होती है, चाहे वह अनपढ़ ग्रामीण हो या डाक्टर हो, या कोई भी अन्य व्यक्ति हो, उसे

---

1. Status. 2. Deputation.

विधि का ज्ञान होना चाहिये। किन्तु उतनी ही पुरानी एक अन्य कहावत है कि न्यायाधीश के बारे में यह आशा नहीं की जाती है कि वह विधि जानता ही हो। प्रथम दृष्ट्या इससे बड़ी गलत धारणा बनती है। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि न्यायाधीश के विषय में यह माना जाता है या यह आशा की जाती है कि उसे विधि का ज्ञान न हो। कदापि नहीं। इस कहावत का तात्पर्य यही है कि जो भी निर्णय करने के लिये बैठे वह विधि भलीभांति जाने, किन्तु अपने मानसिक प्रशिक्षण के कारण वह मुकदमे के अन्त तक ग्रहणशील[1] बना रहे। वह विधि स्वयं जानते हुये भी किसी भी मामले में अपनी अन्तिम राय पक्षकारों को सुनकर ही कायम करे। वे दिन लद गये जब न्यायिक अधिकारी भली भांति विधि जाने बिना दोनों ओर के वकीलों द्वारा प्रस्तुत कानून के आधार पर ही काम चला सकता था। विधि का ज्ञान प्राप्त करने के अनेक तरीके हैं। आपको पर्याप्त खाली समय मिलेगा। उसे आप विधि का ज्ञान अर्जित करने में लगायें। यह न समझें कि मुकद्दमा करते-करते आपको विधि का ज्ञान हो जायेगा। यदि आप पहले से तैयार नहीं रहे तो आप अनेक बार चकमा खा जायेंगे। इसी कारण मैं यह सलाह और निदेश देता रहा हूं कि अधिकारीगण अपने-अपने संदर्भ-संग्रह[2] बनाने का कार्य गंभीरता से करें। यह आदत आप प्रारम्भ से ही डाल लें। मैं कहता हूं कि आगे चलकर यह आपको बहुत अच्छा लगेगा। सर्वाधिक सफल न्यायाधीशों में, चाहे वे अधीनस्थ न्यायालय के हों या उच्च न्यायालय के, वे लोग रहे हैं जो बराबर डाईजेस्ट बनाते रहे।

अवतरण[3] :—आपको एक नोटबुक भी रखनी चाहिए जिसमें आप वे पैरे विस्तारपूर्वक नोट करें जो आपकी दृष्टि में निर्णय-पत्रिका, निर्णय या अन्य पुस्तकें पढ़ते समय आएं और जो आपको अच्छे लगें, तथा जिनका उपयोग आप अपने निर्णयों में भी करना चाहें, जिससे वे अधिक पठनीय और सुन्दर हो जाएं। निर्णय में किसी का प्रति-लिप्याधिकार[4] नहीं होता। आप उसके पैराओं का स्वतंत्रता-पूर्वक (किन्तु स्रोत का उल्लेख करते हुए) उपयोग कर सकते हैं। उससे आपके शब्द-ज्ञान और निर्णय के स्तर दोनों की उन्नति होगी।

अन्तर्वर्ती आदेश[5] :—एक अन्य विषय जिसका मैं उल्लेख करना चाहूंगा वह है अन्तर्वर्ती आदेश। नए अधिकारियों में एक धारणा रहती है कि अन्तर्वर्तीय आदेश करने की शक्ति आस्थिति[6] की सूचक है। यह एक भ्रम है। अन्तर्वर्ती आदेश

---

1. Receptive. 2. Digest of rulings. 3. Quotations.
4. Copyright. 5. Interlocutory order. 6. Status.

जारी करने की शक्ति से आपको कोई उच्चतर आस्थिति या अधिक मान नहीं मिल जाता। आपके लिए मार्ग-दर्शक सिद्धान्त पूर्वनिश्चित हैं। आपको उन सुप्रतिष्ठित सिद्धान्तों के अनुसार कार्य करना है। फिर, जब आप अंतरिम आदेश दे दें तो उस आदेश को ऐसे ही निरन्तर न चलने दें। कुछ समय बाद, चाहे वह तीन महीने का हो या छह महीने का, पक्षकारों को सुनने के बाद अंतिम आदेश देने का अवसर आयेगा। जब भी आप किसी व्यादेश[1] के लिए आवेदन का निर्णय करेंगे तो आप निश्चित मानिए सदैव ही जिला न्यायाधीश को अपील होगी। जो भी हारता है वह ऊपर जाता है। अतः जिला न्यायाधीश द्वारा निर्णीत मामलों में से 80 प्रतिशत में उच्च न्यायालय में पुनरीक्षण दाखिल होता है। आपइस सारे कार्य को जरा से प्रयत्न से समाप्त कर सकते हैं। मेरा सुझाव यह है कि आप अन्तर्वर्ती आवेदन को स्वयं वाद की सुनवाई से जोड़ने का तरीका अपना लें। आप देखेंगे कि 80 प्रतिशत मामलों में अन्तर्वर्ती आवेदन तथा वाद में विवाद-वस्तु[1] एक ही होती है। जब वादी वाद दाखिल करता है और साथ ही व्यादेश के लिए आवेदन देता है तो आप दोनों में ही नोटिस जारी करते हैं। मामूली तौर पर लिखित कथन और आपत्तियां दाखिल करने के लिए एक ही तारीख दी जाती है। सर्वप्रथम आपको इस बात का आग्रह करना चाहिए कि आपत्तियों के साथ-साथ या उसके शीघ्र बाद लिखित कथन (प्रतिवाद-पत्र) भी दाखिल हो जाए। अधिकांश मामलों में बेहतर यह होगा कि शनैः शनैः वाद को भी अन्तर्वर्ती आवेदन के साथ आगे बढ़ाते रहें। यदि लिखित कथन आ जाए तब तो कोई कठिनाई है ही नहीं। आपत्ति में जो कुछ कहा जाएगा बहुत कुछ वही सामग्री लिखित कथन में होगी। अन्त में आने वाले एक-दो औपचारिक पैराओं की बात अलग है। यह कठिन नहीं है कि लिखित कथन और आपत्ति को लगभग एक ही समय पर दाखिल करा लिया जाए हां, इसके लिए आपको सतर्क रहना होगा। प्रारम्भ में वकील वह बात नहीं मानेंगे क्योंकि उससे उनको लाभ नहीं होता। किन्तु जब आप आग्रह करेंगे तब वह वैसा ही करेंगे। जब लिखित कथन दाखिल हो जाए तो शीघ्रतम सुविधापूर्ण तारीख पर विवाद्यक[2] विरचित करलें। आप पाएंगे कि वाद-पत्र तथा अन्तरिम व्यादेश के लिए आवेदन के साथ वादी प्रायः अपना लिखित साक्ष्य दाखिल करता है। आपत्तियों के साथ भी प्रतिवादी अपनी दस्तावेजें दाखिल करता है। वह सामान्यतः ऐसा इसलिए करता है कि अन्यथा व्यादेश के लिए आवेदन पर अपनी बहस नहीं कर

---

1. Injunction. 1. Point at Issue 2, Issues.

पायेगा। उस स्तर पर शेष केवल मौखिक साक्ष्य रह जाता है। और यही आपकी चतुराई और व्यवहार-कौशल की आवश्यकता है। जब लिखित कथन आ गया और विवादक बन गए तो आपको वकीलों से यही कहना है "देखिए, आप अपना मौखिक साक्ष्य भी ले आएं क्योंकि उससे मैं आपकी दस्तावेजें बेहतर समझ सकूंगा।" अधिकतर मामलों में तो वे दस्तावेजों के औपचारिक सबूत से छूट देने को सहमत हो जायेंगे। कुछ दशाओं में वे मौखिक साक्ष्य से भी छूट दे देंगे। अधिकांश मामलों में साक्षी वही के होते हैं। आप उन्हें आसानी से बुला सकते हैं। जब एक बार साक्ष्य लिख गया तो केवल बहस ही बचती है। यह सुनिश्चित कर लें कि व्यादेश के लिए आवेदन और बाद में बहस एक ही साथ हो। यह बहुत कठिन नहीं है क्योंकि दोनों में बहस एक ही होगी।

न्यायपालिका की परम्पराएँ :-बहुत समय पहले मैथ्यू हेल ने विधि की व्याख्या लिखी। उसके एक अध्याय की विषय-वस्तु है : "न्यायाधीश का आचरण, अनुशासन और हटाया जाना तथा स्मरण रखने योग्य बातें।" उसमें लिखा है कि न्याय प्रशासन भगवान्, राजा और देश के नाम में एक न्यास[1] का निर्वहन है और उसे सत्यनिष्ठा से, विमर्शपूर्वक और संकल्पपूर्वक करना चाहिए। "सत्यनिष्ठा" से अर्थ इमानदारी का होता है। "विमर्शपूर्वक" से तात्पर्य विद्वत्ता से होता है और "संकल्पपूर्वक" से तात्पर्य खुले मस्तिष्क का है। स्मरणरखिए कि निर्णय करने में आप अपने मनोभावों को अलग रखते हैं और कितना भी प्रकोपित होने पर भी आप उनके वश में नहीं होते। न्यायिक अधिकारी के लिए यह आवश्यक है कि मामले का निर्णय करते समय अपने मनोभावों को व्यक्त न करे, चाहे वह अधिवक्ताओं और वादकारियों द्वारा कितना ही प्रकोपित क्यों न किया जाए। यह सारभूत है कि हमारा पूरा ध्यान उस काम पर रहे जिसमें हम लगे हैं और अन्य सब चिन्ताओं और विचारों तथा अनुचित विक्षेपों से दूर रहें। हम अपने मन में किसी प्रतिकूल भावना को स्थान न दें तथा दोनों पक्षकारों को सुन कर ही अपनी राय कायम करें। न्याय करने में यही बात हो कि न हम निर्धन के प्रति दया भावना से अभिभूत होकर कार्य करें और न धनवान की ओर झुकें। न्याय करने में हम किसी भी छण न सार्वजनिक प्रशंसा से और न लोगों की नापसंदगी से प्रभावित हों। और जब तक हम न्याय के नियमों के अनुसार कार्य कर रहे हैं तब तक इस बात के लिए चिन्तित न हों कि लोग क्या कहेंगे या क्या समझेंगे।

---

1. Trust.

स्थानीय लोग आपको भोजों में बुलाएंगे। वहां कभी न जाएं। अपने निकट रिश्तेदारों और घनिष्ठ मित्रों को छोड़कर, किसी भोज में न जाएं, चाहे वह अधिवक्ता का हो या व्यापारी का। एक विषय में न्यायिक सेवा सबसे अधिक संवेदनशील और सबसे अधिक निर्बल है। जब भी कोई व्यक्ति वादकारी होता है, चाहे वह ग्रामीण हो या विश्वविद्यालय का आचार्य या प्रधानमन्त्री ही हो, उसकी सारी मनोवृत्ति बदल जाती है। वह हर बात को शंका की दृष्टि से देखता है। जो भी पक्षकार मुकदमा हारता है उसके लिए वह अधिकारी का कोई हेतु[1] बताता है। आखिर आपको इसी संसार में जीना है। यदि आप ऐसे स्थानों पर जाएंगे और संयोगवश वह स्वयं या उसका कोई रिश्तेदार वादकारी हो जाए तो आपको पता भी नहीं लगेगा। कोई आपको आकर पहले से बताएगा भी नहीं। किन्तु जनसामान्य का, जिनका काम आप रोज करते हैं, चिन्तन महत्त्व रखता है। हो सकता है कि आप को यह लगे कि आप बिल्कुल निष्पक्ष और किसी भी बाह्य बात से अप्रभावित हैं। किन्तु आपकी भावना उतना महत्व नहीं रखती जितनी यह बात कि जनता क्या सोचती है। आपको अपनी पदीय स्थिति की रक्षा जनमानस की दृष्टि से करनी है।

हम इस बात पर जोर देना चाहेंगे कि पदासीन होने पर पहली बात यह आएगी कि आपको सिनेमा के पास देकर आमंत्रित किया जायेगा। आप सोच सकते हैं कि यह छोटी सी बात है। किन्तु हम बता दें कि आज यह बहुत महत्वपूर्ण हो गई है। कोई दरोगा या दीवान आपके न्यायालय से प्रारम्भ से सम्बद्ध होगा। उसे यह कभी संकेत न दें कि आप कोई लाभ उसकी मारफत चाहते हैं। बल्कि यदि आप सेवा में सम्मानपूर्वक रहना चाहते हैं तो उसे निरुसाहित करें। आपको यह समझ लेना चाहिए कि यदि जनता आपको सिनेमा जाते देखेगी और आपके साथ में कोई दरोगा या सिपाही होगा तो आपके प्रति दृष्टिकोण अवमान[2] का ही होगा। आप भले ही सोचें कि सिनेमा जाने में आपके साथ पुलिस वाला चलने से आप बड़े अधिकारी लगेंगे, लेकिन आप याद रखें कि उससे आपको जाते देखने वाले प्रत्येक व्यक्ति के मन में उपहास की ही भावना उभरेगी।

इसी प्रकार से, किसी प्रकार का चन्दा उगाहने में न लगें। सिविल न्यायालय के क्लब के लिए भी नहीं, अपनी न्यायिक सेवा की पत्रिका के लिए भी नहीं,

1. Motive.
2. Contempt.

और अपनी किसी संस्था की पत्रिका के लिए भी नहीं। ये पुरानी परम्पराएं हैं। बेहतर यही होगा कि उनके औचित्य में शंका किए बिना उनका अनुसरण करें।

न्यायालय कौशलः– पहले ही दिन से आपको अकेले काम करना पड़ेगा। विशेषतः प्रारम्भ में कोई भी व्यक्ति नहीं होगा जो आपकी सहायता या मार्ग-दर्शन करे। प्रतिदिन 5-6 घण्टे अपने एकमात्र मित्र स्वयं आप होंगे। निश्चय ही अनुभव आपको सिखाएगा। किन्तु कुछ छोटी-छोटी बातें हैं जिन पर आप प्रारम्भ से ही ध्यान दें। कभी मानसिक संतुलन न खोएं। यह भी उतना ही महत्वपूर्ण है कि न्यायालय में बैठे होने के समय ऊबे हुए न दिखाई दें। हल्की-फुल्की बातें न करें, विशेषतः न्यायालय में। न्यायालय राजनीतिक या सामाजिक चर्चा के लिए नहीं होता। अधिवक्तागण आपको उसके लिए प्रेरित करें, तो करते रहें। न्यायालय के बाहर भी उनसे अलग रहें। अधिवक्ताओं के अनेक बार अपने घर या चैम्बर में आने को प्रोत्साहित न करें। वरना आपको पता भी नहीं लगेगा और लोग फायदा उठा लेंगे। इस विषय में और कहने की आवश्यकता नहीं है।

समय पालन : न्यायपालिका की छवि बहुत कुछ न्यायाधीशों द्वारा समय-पालन पर निर्भर करती है। जब वादकारी (भले ही वे अपढ़ ग्रामीण हों) आकार देखते हैं कि आप समय से पीठासीन हो गये हैं यद्यपि अभी तक वकील नहीं आए हैं तो उन्हें एक विशिष्ट तुष्टि की अनुभूति होती है।

आदर्श : न्यायिक अधिकारी की परम्परागत छवि मलिन जल में विकसित कमल की होती है। उसे बनाए रखें।

[प्रशासनिक प्रशिक्षण संस्थान, नैनीताल में
अप्रैल, 1978 में दिये गये समापन भाषण से]

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मी समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥

भृंतहरि—नीतिशतक–84॥

धीर व्यक्ति न्यायमार्ग से कभी विचलित नहीं होते - नीति-निपुण
समझे जाने वाले व्यक्ति चाहें निन्दा करें और चाहें
प्रशंसा, धन-सम्पत्ति चाहे मिले, चाहे
चली जाए, और चाहे तत्काल
मृत्यु हो जाए, चाहे
दीर्घायु मिले।

न्यायिक अधिकारी आचार संहिता

यद्यपि न्याय के मूलभूत सिद्धान्त सभी समाजों में एक से हैं तथापि सामाजिक परिस्थितियों एवं परम्पराओं में अन्तर होने के कारण उसकी व्यवस्था में अन्तर आ जाता है। किन्तु हमारी वर्तमान विधि व्यवस्था एवं न्याय-व्यवस्था अंग्रेजी शासन की देन होने के कारण पाश्चात्य प्रणाली की है। इसीलिए अमरीकी बार एसोसिएशन के प्रतिनिधि सदन (हाउस आफ डेलीगेट्स) ने 16-8-1972 को न्यायाधीशों के आचरण के लिए जिस संहिता को अंगीकार किया वह भारत के संदर्भ में भी बहुत कुछ लागू होती है। उसका सुसंगत अंश हम नीचे प्रस्तुत करते हैं :

नियम 1–न्यायाधीश को न्यायपालिका की सत्यनिष्ठा और स्वतन्त्रता को सबल बनाना चाहिए।

हमारे समाज में न्याय के लिए स्वतन्त्र और सम्मानीय न्यायपालिका अपरिहार्य है। न्यायाधीश को चाहिए कि आचरण के उच्च स्तर को प्रतिष्ठित करने, बनाए रखने और प्रतिफलित करने में भाग ले और स्वयं उसका पालन करे जिससे कि न्यायपालिका की सत्यनिष्ठा और स्वतन्त्रता बनी रहे। इस संहिता के उपबन्धों का अर्थ और उपयोग इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए किया जाना चाहिए।

नियम 2–न्यायाधीश को चाहिए कि अपना क्रियाकलाप ऐसा रखे कि उसमें अनौचित्य न तो वास्तव मे हो और न प्रतीत हो।

क– न्यायाधीश को चाहिए कि विधि का आदर और पालन करे जिससे कि न्यायपालिका की सत्यनिष्ठा और निष्पक्षता में जनआस्था बढ़े।

ख– न्यायाधीश को चाहिए कि अपने न्यायिक कार्य या निर्णय को अपने कुटुम्ब के अथवा सामाजिक या अन्य सम्बन्धों द्वारा प्रभावित न होने दे। उसे अपने पद की प्रतिष्ठा का उपयोग दूसरों के निजी हितों की साधना के लिए नहीं करना चाहिए, और न उसे यह धारणा बनने या बनाने देना चाहिए कि वे उसे प्रभावित करने की विशेष स्थिति में हैं। किसी के चरित्र की साक्षी उसे स्वेच्छा से नहीं करनी चाहिए।

नियम 3–न्यायाधीश को अपने पद के कर्तव्यों का पालन निष्पक्षता से और अध्यवसायपूर्वक करना चाहिए।

न्यायाधीश के न्यायिक कर्तव्य उसके सभी अन्य क्रियाकलाप से अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं। उसके न्यायिक कर्तव्यों में उसके पद के लिए विधि द्वारा विहित सभी कर्तव्य आते हैं। इन कर्तव्यों के सम्पादन में निम्नलिखित मानदण्ड लागू होते हैं :-

क- न्यायनिर्णयन[1] का दायित्व :

1. न्यायाधीश को विधि के प्रति निष्ठावान् होना चाहिए और उसे उसमें वृत्तिक[2] क्षमता बनाए रखनी चाहिए। उसे निजी हित या जनरव से या आलोचना के भय से विचलित नहीं होना चाहिए।

2. न्यायाधीश को चाहिए कि अपने समक्ष की कार्यवाहियों में व्यवस्था और शालीनता बनाए रखे।

3. न्यायधीश को वादकारियों, साक्षियों, वकीलों और अन्य व्यक्तियों के प्रति, जिनसे उसे पदीय हैसियत से बरतना पड़ता है, धीर, गरिमामय और नम्र होना चाहिए तथा अधिवक्ताओं, अपने कर्मचारिवृंद, न्यायालय के कर्मचारियों तथा अपने निदेशन व नियंत्रण के अधीन के अन्य व्यक्तियों से भी वैसे ही आचरण की अपेक्षा रखनी चाहिए।

4. न्यायाधीश को चाहिये कि कार्यवाही में विधितः हितबद्ध प्रत्येक व्यक्ति को, या उसके वकील को विधि के अनुसार सुनवाई का पूरा अवसर दे और विधि के प्राधिकार के बिना किसी विचाराधीन या आगामी कार्यवाही के सम्बन्ध में कोई कार्यवाही न प्रारम्भ करे, न उस पर एकतरफा विचार करे। किन्तु न्यायाधीश अपने समक्ष की कार्यवाही से सम्बन्धित विधि के विषय में स्वतन्त्र विशेषज्ञ की सलाह ले सकता है यदि वह पक्षकारों को परामर्श किये गये व्यक्ति की तथा उसकी सलाह के सार की सूचना दे दें और उन्हें उसके बारे में अपना पक्ष प्रस्तुत करने का उचित अवसर दे दें।

5. न्यायाधीश को न्यायालय की कार्यवाही तत्परता से निपटानी चाहिये।

6 न्यायाधीश को किसी न्यायालय में विचाराधीन या उसमें होने वाली किसी कार्यवाही के सम्बन्ध में अपने विचार सार्वजनिक रूप से प्रकट नहीं करने चाहिये और वैसी ही अपेक्षा अपने निदेशन और नियंत्रण के अधीन के न्यायालय कर्मचारियों से करनी चाहिये। इस उपधारा से न्यायाधीश के अपने पदीय कर्तव्यों के निर्वहन के दौरान सार्वजनिक रूप से बात कहने

1. Adjudicative. 2. Professional.

अथवा न्यायालय की प्रक्रियाओं की सार्वजनिक रूप से जानकारी देने का प्रतिषेध नहीं होता।

ख–प्रशासनिक दायित्व..... ...

ग–निरर्हतायें[1] :

1. न्यायाधीश को ऐसी कार्यवाही में भाग नहीं लेना चाहिए जिसमें उसकी निष्पक्षता को उचित तौर पर प्रश्नगत किया जा सके। ऐसे मामलों में निम्नलिखित भी शामिल होंगे :

क. जब किसी पक्षकार के विरुद्ध उसकी व्यक्तिगत पूर्वधारणा हो या उसे कार्यवाही से सम्बन्धित साक्ष्य के विषयभूत विवादित तथ्यों की जानकारी हो।

ख. उसने विवादित मामले में वकील के रूप में कार्य किया हो, अथवा जिस वकील के साथ उसने वकालत की हो उसने उसके साथ के दौरान उस कार्यवाही में वकील के तौर पर कार्य किया हो, अथवा न्यायाधीश या ऐसा अधिवक्ता उसमें तथ्य-विषयक साक्षी हो।

ग. उसे ज्ञात हो कि विवादित विषयवस्तु में, या कार्यवाही के किसी पक्षकार में उसका निजी या वैश्वासिक[2] हैसियत से वित्तीय हित है, या उसके साथ रहने वाले उसके पति/पत्नी या अवयस्क बालक का वित्तीय हित है या कोई अन्य ऐसा हित है जो कार्यवाही के परिणाम से सारतः प्रभावित होता है।

घ. वह या उसका पति/पत्नी या उनमें से किसी से तीन पीढ़ियों तक सम्बद्ध या ऐसे सम्बद्ध व्यक्ति का पति/पत्नी :–

(i) कार्यवाही में पक्षकार हो या किसी पक्षकार का पदाधिकारी, निदेशक या न्यासी हो;

(ii) कार्यवाही में वकील के तौर पर कार्य कर रहा हो;

(iii) न्यायाधीश की जानकारी में ऐसा हित रखता हो जो कार्यवाही के परिणाम से सारतः प्रभावित होगा;

(vi) न्यायाधीश की जानकारी में संभाव्यतः कार्यवाही में तात्त्विक साक्षी होगा।

---

1. Disqualifications. 2. Fiduciary.

2. न्यायाधीश को अपने व्यक्तिगत और वंश्वासिक वित्तीय हितों की जानकारी रखनी चाहिए तथा अपने साथ रहने वाले अपने पति/पत्नी और अवयस्क बालकों के निजी वित्तीय हितों की जानकारी रखने का उचित प्रयत्न करना चाहिए।

नियम 4-न्यायधीश विधि, विधि-पद्धति और न्याय-प्रशासन में सुधार के क्रियाकलाप में भाग ले सकता है।

न्यायाधीश अपने न्यायिक कर्तव्यों के उचित पालन पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना, निम्नलिखित न्यायिककल्प[1] क्रियाकलाप में शामिल हो सकता है, यदि वह कार्य उसके समक्ष आने वाले किसी प्रश्न का निष्पक्ष निर्णय करने की उसकी सामार्थ्य में संदेह उत्पन्न न करे।

क. वह विधि, विधि-पद्धति और न्याय-प्रशासन से संबंधित अन्य कार्यक्रमों में बोल सकता है, लिख सकता है, व्याख्यान दे सकता है, पढ़ा सकता है, और भाग ले सकता है।

ख. वह विधि, विधि-पद्धति और न्याय-प्रशासन से सम्बन्धित मामलों में किसी कार्यपालक या विधायी निकाय या पदधारी के समक्ष की सार्वजनिक सुनवाई में उपस्थिति हो सकता है और वह कार्यपालक या विधायी निकाय से अन्यथा परामर्श कर सकता है, किन्तु ऐसा केवल न्याय-प्रशासन से संबंधित मामलों में कर सकता है।

ग. वह विधि, विधि-पद्धति और न्याय-प्रशासन के सुधार में लगे संगठन या सरकारी अभिकरण का सदस्य, पदाधिकारी या निदेशक हो सकता है। .....

नियम 5-न्यायाधीश को अपने न्यायिक से भिन्न क्रियाकलाप की व्यवस्था इस प्रकार करनी चाहिए कि उसके न्यायिक कर्त्तव्यों से विरोध की संभावना न हो।

क. उपव्यवसाय संबंधी[2] क्रियाकलाप–न्यायाधीश विधिक से भिन्न विषयों पर लिख सकता है, व्याख्यान दे सकता है, उन्हें पढ़ा सकता है और उन पर बोल सकता है और कला, खेल-कूद तथा अन्य सामाजिक और

1. Quesi judicial. 2. Avocational.

मनोरंजनात्मक कार्यों में लग सकता है, यदि वे उपव्यवसाय संबंधी क्रियाकलाप उसके पद की गरिमा को कम न करें अथवा उसके न्यायिक कर्तव्यों के पालन में हस्तक्षेप न करें। .....

ख. नागरिक और पूर्त[1] क्रियाकलाप – न्यायाधीश ऐसे नागरिक और पूर्त क्रियाकलाप मे भाग ले सकता है जो उसकी निष्पक्षता के प्रतिकूल प्रभाव न रखें और न उसके न्यायिक कर्तव्यों के पालन में हस्तक्षेप करे।

ग. वित्तीय क्रियाकलाप :

1. न्यायाधीश को ऐसे वित्तीय और कारोबारी व्यवहारों से बचना चाहिए जिनकी प्रवृत्ति उसकी निष्पक्षता पर प्रतिकूल प्रभाव डालने की हो या जो उसके न्यायिक कर्तव्यों के उचित पालन मे हस्तक्षेप करें, या जिनसे उसकी न्यायाधीश के रूप में स्थिति का अनुचित उपयोग हो या जिनके कारण उसे अधिवक्ताओं अथवा जिस न्यायालय में वह काम करता है उसमें सम्भाव्यत: आने वाले व्यक्तियों से बहुधा व्यवहार करना पड़े।

2. उपधारा 1 की अपेक्षाओ के अधीन रहते हुए, न्यायाधीश पूंजी-निवेश[2] जिसमें स्थावर सम्पत्ति भी आती है, रख सकता है और उसका प्रबन्ध कर सकता है।...

3. न्यायाधीश को अपने पूंजी-निवेश तथा अन्य वित्तीय हितों का प्रबन्ध इस प्रकार करना चाहिए कि ऐसे मामले कम से कम हों जिनसे वह निरर्हित[3] हो जाए। जैसे ही गंभीर वित्तीय हानि के बिना वह ऐसा कर सके, उसे ऐसे पूंजी-निवेश और अन्य वित्तीय हितों से अपने को अलग कर लेना चाहिए जिनके कारण उसे बराबर निरर्हित होना पड़े।

घ. वैश्वासिक क्रियाकलाप .....

ङ. मध्यस्थता–न्यायाधीश को मध्यस्थ या सुलह कराने वाले के रूप में कार्य नहीं करना चाहिए।

---

1. Charitable. 2. Investment 3. Disqualified

च. वकालत—न्यायाधीश को वकालत नहीं करनी चाहिए।

छ. न्यायिक से भिन्न नियुक्तियां—न्यायाधीश को ऐसी सरकारी समिति या आयोग में या ऐसे अन्य पद पर नियुक्ति स्वीकार नहीं करनी चाहिए जिसका संबंध विधि विधि-पद्धति या न्याय-प्रशासन में सुधार से भिन्न विषयों में तथ्य या नीति के प्रश्नों से हो। किन्तु न्यायाधीश उत्सव के अवसरों पर, और वित्तीय, शैक्षिक तथा सांस्कृतिक क्रियाकलाप में भी अपने देश, राज्य या परिक्षेत्र का प्रतिनिधित्व कर सकता है।'''

नियम 7—न्यायाधीश को ऐसे राजनीतिक क्रियाकलाप से अलग रहना चाहिए जो उसके न्यायिक पद के लिए उपयुक्त न हों।

1. न्यायाधीश को या न्यायाधीश के पद के अभ्यर्थी को—

क. किसी न्यायिक संगठन में नेता या किसी पद पर नहीं होना चाहिए;

ख. किसी राजनीतिक संगठन या अभ्यर्थी के लिए सार्वजनिक भाषण नहीं करना चाहिए और न किसी सार्वजनिक पद के लिए किसी अभ्यर्थी का सार्वजनिक रूप से समर्थन करना चाहिए;

ग. किसी सार्वजनिक संगठन या अभ्यर्थी के लिए धन की मांग या निर्धारण का संदाय नहीं करना चाहिए, न चन्दा देना चाहिए, न राजनीतिक सभाओं में भाग भाग लेना चाहिये और न राजनीतिक दल के भोजों या अन्य कृत्यों के टिकट खरीदने चाहिए।.....

2. न्यायाधीश को किसी राजनीतिक क्रियाकलाप में भाग नहीं लेना चाहिए, सिवाय इसके कि वह विधि, विधि-पद्धति या न्यायप्रशासन में सुधार की दृष्टि से सुझाव दे सकता है।

[वाल्टर एफ. मर्फी रचित पुस्तक
"कोर्ट्स, जजेज ऐण्ड पालिटिक्स" से साभार।]

हमारी विधि-क्षेत्रीय भाषा

न्यायमूर्ति श्री मुरा शरण लाल श्रीवास्तव

विधि क्षेत्र के दो सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य है (i) विधायन, अर्थात विधि-निर्माण तथा (ii) न्याय प्रशासन। जिस भाषा में विधि बनती है सामान्यतः उसी में कानूनों के पाठ उपलब्ध होते हैं तथा उन्हीं पाठों के आधार पर अन्य विधि-कार्य किए जाते हैं। न्यायप्रशासन की जो भाषा होती है उसी का न्यायाधीश, अधिवक्ता तथा वादकारी प्रयोग करते हैं। विधायन तथा न्याय प्रशासन की भाषा में ही प्रायः विधि-साहित्य के सृजन तथा विधि-शिक्षण के कार्य के किए जाते हैं। अत, विधि-क्षेत्रीय भाषा के ज्ञान के लिए प्रमुखतः यह देखना होता है कि विधायन तथा न्याय-प्रशासन में भाषाई स्थिति क्या है।

जहां तक विधायन का संबंध है, हमारे यहां उसके प्रमुख स्तर दो हैं :- (i) संघ एवं (ii) राज्य। यद्यपि संविधान के अनुच्छेद 343 (1) के अनुसार संघ की राजभाषा हिन्दी है, किन्तु अनुच्छेद 348 (1) (ख) के अनुसार संसदीय विधायन की एकमात्र भाषा अंग्रेजी है। संसद को उसमें परिवर्तन करने का अधिकार है, किन्तु ऐसा किया नहीं गया है। केन्द्रीय राजभाषा अधिनियम की धारा 5 (2) में यह व्यवस्था अवश्य कर दी गई है कि विधेयकों आदि के अंग्रेजी पाठ के साथ-साथ उनका प्राधिकृत हिन्दी अनुवाद भी दिया जाएगा। और यह दिया जा रहा है। दूसरे, उक्त अधिनियम की धारा 5 (1) में यह विधान है कि केन्द्रीय अधिनियम, नियम, आदि का राष्ट्रपति के प्राधिकार से प्रकाशित हिन्दी अनुवाद उसका प्राधिकृत हिन्दी पाठ माना जाएगा। इसके अनुसार पुराने कानूनों के हिन्दी पाठ बराबर प्रकाशित किए जा रहे हैं तथा एक वर्ष पूर्व तक के लगभग सभी केन्द्रीय अधिनियमों के हिंदी पाठ उपलब्ध है। उनमें से बहुत से द्विभाषीय रूप (हिंदी-अंग्रेजी) में भी प्रकाशित किए जा चुके हैं।

जहां तक राज्य विधायन का सम्बन्ध है, उत्तर प्रदेश की भाषा निःसंदेह हिन्दी है। उत्तर प्रदेश भाषा (विधेयक तथा अधिनियम) अधिनियम, 1950[1] की धारा 2 के अनुसार राज्य विधान-मण्डल में पेश किये जाने वाले विधेयकों तथा उसके द्वारा पारित किये जाने वाले अधिनियमों की भाषा हिन्दी है।

---

1. उ० प्र० अधिनियम सं० 1, सन् 1950;

वस्तुतः उत्तर प्रदेश विधान मण्डल के दोनों सदनों–विधान सभा[1] तथा विधान परिषद्[2] की सभी कार्यवाहियों की भाषा हिन्दी है। राज्य विधान-मण्डल द्वारा अन्यथा विधि न बनायें जाने के कारण संविधान के अनुच्छेद 210 के परन्तुक (प्रोविजो) के अनुसार वैसे भी उत्तर प्रदेश के विधान-मण्डल की भाषा हिन्दी ही है।

उत्तर प्रदेश राजभाषा अधिनियम, 1951 की धारा 2 तथा उसके अधीन निकाली गई अधिसूचनाओं के अनुसार राज्यपाल द्वारा प्रख्यापित अध्यादेशों की तथा राज्य सरकार द्वारा निर्मित नियमों, आदेशों, उपविधियों और विनियमों की की भाषा हिन्दी है।[3]

इस प्रकार राज्य स्तर पर विधायन का सभी कार्य हिन्दी में होता है तथा कानूनों के मूलपाठ हिन्दी में ही होते हैं। साथ ही संविधान के अनुछेच्द 348 (3) की अपेक्षानुसार राज्यपाल के प्राधिकार से उनके अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित किये जाते हैं जो संविधान के अनुच्छेद 348 (3) की व्यवस्थानुसार अंग्रेजी मूलपाठ का स्थान प्राप्त करते हैं। इस प्रकार राज्य के 1950 से बने कानूनों के मूलपाठ हिन्दी वाले हैं तथा जो पाठ हम अंग्रेजी में पढ़ते है वह उनका अनुवाद होता है जिसे कानून में अंग्रेजी मूलपाठ का दर्जा दे दिया गया है।

उत्तर प्रदेश में नए कानून तो हिन्दी में बन ही रहे हैं; एक समस्या उन कानूनों की थी जो पहले अंग्रेजी में बनाये गये थे। उनके सम्बन्ध में उ० प्र० राजभाषा (अनुपूरक उपबन्ध) अधिनियम, 1969 ने यह व्यवस्था कर दी कि राज्यपाल के प्राधिकार से प्रकाशित उनके हिन्दी अनुवाद उनके प्रमाणिक पाठ समझे जायेंगे। इस अधिनियम के अनुसार अधिनियमों के हिन्दी पाठों का कार्य तो बहुत कुछ हो चुका है, किन्तु नियम, आदि के हिन्दी पाठों का कार्य अधिकांशतः शेष है।

न्याय-प्रशासन के क्षेत्र में संघ स्तर पर उच्चतम न्यायालय है। संविधान के अनुच्छेद 348 (1) (क) के अनुसार वहाँ की कार्यवाही की एकमात्र भाषा अंग्रेजी है। संसद को उसमें परिवर्तन करने का अधिकार है, किन्तु किया नहीं

---

1. उ० प्र० विधान सभा की प्रक्रिया तथा कार्य–संचालन नियमावली, 1958 का नियम 281;
2. उ० प्र० के विधान परिषद् की प्रक्रिया तथा कार्य–संचालन नियमावली का नियम 18;
3. विधायिका विभाग की 30 अक्टूबर, 1992 की विज्ञप्ति सं० यू० ओ० 718/17;

गया है। हाँ, हिन्दी के प्रयोक्ताओं की सुविधा की दृष्टि से भारत सरकार का विधि मंत्रालय "उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका" नामक एक मासिक विधि पत्रिका प्रकाशित कर रहा है जिसमें उच्चतम न्यायालय के निर्णयों का पूरा हिन्दी अनुवाद प्रकाशित होता है। अ०भा० हिन्दी विधि प्रतिष्ठान भी अपनी पाक्षिक पत्रिका "उच्चतम न्यायालय निर्णय-सार" में उच्चतम न्यायालय के निर्णयों के संक्षेप हिन्दी में प्रकाशित कर रहा है। ये संक्षेप स्वतःपूर्ण होते हैं तथा उनके आधार पर कार्य किया जा सकता है।

राज्य में उच्च न्यायालय तथा जिला या अधीनस्थ न्यायालय है। संविधान के अनुच्छेद 348(1) (क) के अधीन उच्च न्यायालय में कार्य की सामान्य भाषा अंग्रेजी है। किन्तु अनुच्छेद 348(2) व राजभाषा अधिनियम, 1963 की धारा 7 के अधीन भारतीय भाषाओं का प्रयोग अनुमत किया जा सकता है। इलाहाबाद उच्च न्यायालय में संविधान के अनुच्छेद 348(2) के अधीन पहले 1961 से फौजदारी के मुकदमों में, फिर 1966 से सिविल मुकदमों में बहस हिन्दी में करने की अनुमति दी गई। फिर 5.9.1969 से शपथपत्रों और पेपर-बुक में सम्मिलित किए जाने वाले बयानों और दस्तावेजों में हिन्दी के प्रयोग की अनुमति दी गई।[1] अन्ततः अनुच्छेद 348(2) तथा केन्द्रीय राजभाषा अधिनियम, 1963 की धारा 7 के अनुसार निर्णयों सहित लगभग सभी कार्यों के लिए हिन्दी के प्रयोग की अनुमति हो गई।[2] इलाहाबाद उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश सहित अनेक न्यायाधीशों ने अपने निर्णय हिन्दी में दिए हैं। इधर तो कुछ हिन्दी प्रेमी न्यायाधीश अपने अधिकांश निर्णय हिन्दी में ही दे रहे हैं। जहाँ तक उच्च न्यायालय के फौजदारी के निर्णयों का संबंध है, हिन्दी में दिए गए निर्णय उसी रूप में तथा अंग्रेजी में दिए गए निर्णयों के पूरे हिन्दी रूपान्तर अ. भा. हिन्दी विधि प्रतिष्ठान द्वारा प्रकाशित पाक्षिक पत्रिका "इलाहाबाद दण्ड निर्णय" में प्रकाशित किए जा रहे हैं।

जिला स्तर पर 1947 में ही हिन्दी सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 की धारा 137 के अधीन शक्ति का प्रयोग करके सिविल न्यायालयों की[3] और दण्ड

---

1. भाषा विभाग 5 सितम्बर, 1969 का कार्यालय ज्ञाप सं० 1608/दसकीस-11(59)-67;

2. भाषा विभाग का 28 अक्तूबर, 1970 का कार्यालय ज्ञाप सं० 2135/दसकीस-11(59)-67;

3. सामान्य प्रशासन विभाग की 8 अक्तूबर, 1947, की विज्ञप्ति सं० 4686/6/तीन-170-47;

प्रक्रिया संहिता, 1898 की धारा 558 के अधीन शक्ति का प्रयोग करके दण्ड न्यायालयों की[1] भाषा घोषित कर दी गई थी तथा तब से सभी जिला न्यायालयों की भाषा हिन्दी है। जहां तक निर्णयों का सम्बन्ध है, उत्तर प्रदेश राजभाषा (अधीनस्थ न्यायालय) अधिनियम, 1970 द्वारा दोनों संहिताओं में संशोधन करके यह प्रावधान कर दिया गया कि राज्य सरकार उच्च न्यायालय के परामर्श से आदेश दे सकेगी कि उच्च न्यायालय के अधीनस्थ ऐसे न्यायालयों या वर्गों के न्यायालयों द्वारा और ऐसे वर्गों के वादों में जो नियत किए जाएं, पारित किए या दिये गये प्रत्येक निर्णय, डिक्री या आदेश की भाषा केवल देवनागरी लिपि में लिखित व भारतीय अंकों के अन्तर्राष्ट्रीय रूप के सहित हिन्दी होगी। इस अधिकार का प्रयोग करके सर्वप्रथम राज्य सरकार ने 2.10.1970 से 2000रु० से अनधिक धनराशि की वसूली के लिए सभी मूल वादों और उनके निष्पादन तथा उनसे संबन्धित विविध कार्यवाहियों में पारित किये गये प्रत्येक निर्णय, डिक्री या आदेश की भाषा केवल हिन्दी घोषित कर दी[2] और उसी दिनांक से किसी मजिस्ट्रेट के न्यायालय द्वारा ऐसे सभी मामलों में जिनमें एक वर्ष से अधिक की अवधि के लिए कारावास का दण्ड नहीं दिया जा सकता है, पारित किये गये या दिये गये प्रत्येक निर्णय या आदेश की भाषा केवल हिन्दी कर दी[3]।

नई दण्ड प्रक्रिया संहिता (अधिनियम सं. 2, सन् 1974) के प्रवर्तन पर उसकी धारा 272 के अधीन दिनांक 30.3.1974 को एक विज्ञप्ति निकालकर यह प्रावधान किया गया कि ऐसे समस्त मामलों में जिनमें एक वर्ष से अनधिक के कारावास का दण्ड दिया जा सकता है किसी मजिस्ट्रेट द्वारा पारित किये गये निर्णयों या आदेशों की भाषा हिन्दी होगी और अन्य मामलों में किसी न्यायालय द्वारा पारित निर्णयों और आदेशों की भाषा हिन्दी अथवा अंग्रेजी होगी।[4] इससे सेशन न्यायालय तक को स्पष्ट अधिकार मिल गया कि वे चाहें तो अपने निर्णय हिन्दी में दें। इसके पश्चात् उच्च न्यायालय ने अपने परिपत्र सं० 11/दस-ई-5/प्रशा. (ग), दिनांक 16-8-1976 द्वारा शासन के सुझाव को मानते हुए यह घोषित किया कि भविष्य में मुंसिफों और न्यायिक मजिस्ट्रेटों द्वारा विचारणीय

1. सामान्य प्रशासन विभाग की 8 अक्तूबर, 1947 की विज्ञप्ति सं० 4656/1/तीन-170-47;
2. भाषा विभाग की 1 जून, 1970 की विज्ञप्ति सं. 948/इक्कीस-3/18/69;
3. भाषा विभाग की 1 जून, 1970 की विज्ञप्ति सं. 828/इक्कीस-3/8/69;
4. भाषा विभाग की 20 मार्च, 1974 की विज्ञप्ति सं. 858/इक्कीस-3(1)79;

समस्त दीवानी तथा फौजदारी मुकदमों में निर्णय अनिवार्य रूप से हिन्दी में ही दिये जायेंगे। अतः इन न्यायालयों में केवल हिन्दी के ही प्रयोग की आशा की जाती है। जिला के उच्चतर न्यायालयों के निर्णयों के लिए हिन्दी का प्रयोग वैकल्पिक है, किन्तु इन न्यायालयों के न्यायाधीशों को विचार करना चाहिए कि जिन कारणों से मुंसिफों और न्यायिक मजिस्ट्रेटों द्वारा हिन्दी में निर्णय देना अनिवार्य किया गया है वे उनके निर्णयों के संबंध में उतने ही सुसंगत और महत्वपूर्ण है जितने कि मुंसिफों और न्यायिक मजिस्ट्रेटों के निर्णयों के संबन्ध में और उन्हें स्वतः अपने निर्णय हिन्दी में देने चाहिए।

इस प्रकार हिन्दी का हमारे विधि-क्षेत्र में विशिष्ट स्थान है। जिन न्यायालयों के लिए हिन्दी का प्रयोग अनिवार्य है उनकी तो कोई बात ही नहीं, अन्य न्यायालयों से भी आशा की जाती है कि वे हिन्दी का प्रयोग करें जिससे कि वादकारी निर्णय समझ सकें तथा हमारी न्याय-व्यवस्था में उनकी आस्था दृढ़ हो।

उपर्युक्त स्थिति में एक महत्वपूर्ण प्रश्न विधि-क्षेत्र में प्रयोग की जाने वाली भाषा के स्वरूप का उठता है। इसके लिए यह स्मरणीय है कि विधि एक तकनीकी विषय है तथा विधि का स्वरूप ही भाषामय होने के कारण भाषा का यहां महत्व असाधारण है। शब्दावली के संबंध में यह स्मरणीय है कि अर्थ में असंदिग्धता तथा सुस्पष्टता के लिए जहाँ तक हो सके संबंधित कानून के हिन्दी पाठ में प्रयुक्त शब्दावली का ही प्रयोग करना चाहिए, अन्यथा भ्रांति हो सकती है। साथ ही जहाँ बहुप्रचलित सरल शब्द से काम चल सकता है वहां उसके प्रयोग में संकोच नहीं होना चाहिए। यहां न बहुत जनतावादी होना वांछनीय है, न शुद्धतावादी। विधि का सूक्ष्म विवेचन स्पष्टतः बाजारू भाषा में नहीं किया जा सकता क्योंकि बाजारू भाषा में उसके लिए शब्द ही नहीं होते। विषय की सूक्ष्मता के अनुसार भाषा की सूक्ष्मता की आवश्यकता होती है। दूसरी ओर शुद्धतावादी या संस्कृतनिष्ठता का आग्रह भी वैज्ञानिक नहीं है। भाषा आदान-प्रदान से ही विकसित होती है और वह जितनी ही स्वाभाविक होगी उतनी ही सरल लगेगी कोई शब्द चाहे जिस भाषा से आया हो, यदि वह हमारी भाषा में घुल-मिल गया है तो उसके प्रयोग में संकोच नहीं होना चाहिए। शब्दावली के साथ-साथ वाक्य-निर्माण एवं अभिव्यक्ति शैली की ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। वाक्य अंग्रेजी की शैली का न होकर हिन्दी भाषा वाला होना चाहिए। शाब्दिक अनुवाद से भाषा कृत्रिम और अग्राह्य हो जाती है। हम

शाब्दिक अनुवाद न करके यह विचार करें कि जो बात अंग्रेजी में कही गई है वह मूलतः हिन्दी में कही जाने पर किस प्रकार से कही जाती, और उसी प्रकार कहें। कहने का तात्पर्य यह है कि हिन्दी लिखने में हमें अंग्रेजी का चित्र उतारने की बजाय स्वाभाविक हिन्दी का प्रयोग करना चाहिए।

—: 0 :—

वाग्वै सम्राट् परमं ब्रह्म ॥

बृहदारण्यक 4-12 ॥

शब्द ही सर्वोच्च शासक एवं परम ब्रह्म है।

—: 0 :—

In the beginning was the word, and the Word was with God, and the Word was God. -St. John I-I

प्रारम्भ में "शब्द" ही था, और वह शब्द ईश्वर के सान्निध्य में था; और वह शब्द ही ईश्वर था।

—: 0 :—

हमें आशंका है कि हमारे कुछ न्यायाधीश साक्ष्य दिये जाने के समय उस पर ध्यान नहीं देते। आखिर न्यायाधीश एक अधिकरण होता है। उसका कर्तव्य होता है कि सत्य का यथासंभव पता लगाये। यदि एक साक्षी दूसरे की बात को दोहराते हुये उस घटना या बातचीत में, जिसमें कि पहला साक्षी भी उपस्थित था, कोई ऐसी बात जोड़ता है जो कि पहले साक्षी ने नहीं कही तो हमारी समझ में न्यायाधीश पहले साक्षी को पुनः बुलाकर उससे पूछ सकता है कि क्या वह उस अतिरिक्त बात के विषय में सहमत है और पहले उसने वह बात क्यों नहीं बताई। बल्कि न्यायाधीश को ऐसा अवश्य करना चाहिये। कभी ऐसा होता है कि बात बताने से इसलिये रह जाती है कि वह साक्षी से पूछी ही नहीं गई। यह दोष तो साक्षी का न होकर उसका है जिसने उसकी परीक्षा की। जैसे-जैसे मुकदमा आगे बढ़े, उसे समझने का प्रयत्न करें और मुख्य प्रश्नों पर अपना मत स्थिर करते चलें। साक्षी को सावधानी से देखिये। जिरह करना केवल अधिवक्ताओं का काम नहीं है। यदि न्यायाधीश समझता है कि साक्षी उन्हें धोखा दे रहा है तो स्वयं न्यायाधीश को चाहिये कि प्रश्न करें। साक्षी से उसके कमजोर अंगों के सम्बन्ध में पूछकर मैंने अनेक बार साक्षी से सही बातें मनवाई हैं। साक्षी की परीक्षा के अंत में न्यायाधीश द्वारा कुछ प्रश्न कर लेना विशेष उपयोगी होता है।

अधिवक्ताओं को अपने ऊपर हावी न होने दें। न्यायधीश अपने समक्ष की कार्यवाही का मालिक होता है। उसे लगाम कड़ी रखनी चाहिए। अधिवक्ता एक अश्व की भांति होता है। उसे शीघ्र पता लग जाता है कि उसका स्वामी कैसा है। मैं मुकदमेबाजी में होने वाली कठिनाइयों से अवगत हूं। सर जार्ज नॉक्स ने एक बार मुझसे संहिता में ऐसे संशोधनों के सुझाव मांगे जिनसे न्यायालय अधिक सशक्त हो सके। मैंने उत्तर दिया कि आप ऐसी कोई धारा तैयार नहीं कर सकते जिसके अनुसार यह निर्णय किया जा सके कि न्यायाधीश अधिवक्ता से कब बैठ जाने को कह दे। सामान्य बोध[1] तथा नैतिक साहस के साथ-साथ समय के अपव्यय को रोकने का संकल्प विशेष आवश्यक है; और आप निश्चय रखें कि अपील न्यायालय आपका समर्थन करेगा। बहुधा अपील न्यायालय इस कारण हस्तक्षेप कर देता है कि उसे ज्ञात नहीं होता कि वस्तुतः क्या हुआ। यह कभी-कभी निचले न्यायालय की त्रुटि के कारण होता है कि उसने अपने आदेश या निर्णय में अपने कारण स्पष्ट नहीं किए।

[न्यायिक अधिकारियों को सम्बोधन से]

---

1. Commonsense.

कहने और उसके समर्थन में अन्य प्रमाण या नजीरे पेश करने में समय नष्ट न करें। न्यायाधीश जब अपनी विसम्मति प्रकट करता है तब भी युक्तिमान-वकील यदि वह जानता है कि न्यायाधीश का दृष्टिकोण सही है तो, उस प्रस्थापना को वहीं छोड़ देता है। निस्संदेह ऐसे अधिवक्ता भी होते हैं जो ऐसी दशा में भी गलत बात पर जोर देंगे। उस स्थिति में पीठासीन अधिकारी के लिए यह बेहतर है कि वह वकील से और प्रश्न पूछकर उसे वही अमान्य बात दोहराने के लिए उभाड़ने की बजाय चुप रहे।

एक अंग्रेजी मुकदमे में न्यायाधीश ने साक्षियों की प्रतिपरीक्षा के दौरान अत्यधिक हस्तक्षेप किया, यहां तक कि दोनों ही पक्षों के वकील अप्रसन्न हुए। मामला कोर्ट आफ अपील में, अर्थात् इंगलैण्ड के उच्च न्यायालय की अपीली शाखा में गया। यह **जोन्स बनाम नेशनल कोल बोर्ड** – (1957)2 क्वींस बेन्च 59 में प्रकाशित है। **लार्ड जस्टिस डेनिंग** ने अनेक अच्छी बातें कहीं, जो प्रत्येक न्यायिक अधिकारी को सदैव स्मरण रखनी चाहिए। वे इस प्रकार हैं :–

'न्यायाधीश केवल अधिनिर्णायक (अम्पायर) नहीं होता जो प्रश्न 'हाऊ इज दैट?' का उत्तर देता रहे। सर्वोपरि उद्देश्य सत्य का पता लगाने और विधि के अनुसार न्याय करने का होता है, और उसके नित्यक्रम में अधिवक्ता की एक सम्मानित और आवश्यक भूमिका होती है। संभवतः चांसलर लार्ड एल्डन ने ही कहा था कि सही निष्कर्ष सबसे अधिक तभी निकलता है जब दोनों पक्षों द्वारा सबल तर्क प्रस्तुत किए जाएं। और मास्टर आफ रोल्स लार्ड ग्रीन ने स्पष्ट किया कि सर्वोत्तम न्याय उस न्यायाधीश द्वारा किया जाता है जो विरोधी पक्षकारों के विवाद में स्वयं भाग लिए बिना संतुलन बनाए रखता है। लार्ड ग्रीन ने कहा कि यदि न्यायाधीश स्वयं साक्षियों की परीक्षा करने लगे तो एक प्रकार से वह स्वयं अखाड़े में उतर आता है और फिर उसकी दृष्टि संघर्ष-जन्य धूल से अवरुद्ध हो सकती है।"

"उसे अपनी दृष्टि स्वच्छ रखनी चाहिए। न्याय को अंधा अंकित करना ठीक है। लेकिन उसकी आंखों पर पट्टी न बांधना ही बेहतर है। निस्संदेह अनुकूल और प्रतिकूल भावनाओं के प्रति उसे आंखें बंद रखनी होंगी; किंतु सत्य किधर है यह देखने के लिए उसकी दृष्टि स्वच्छ होनी चाहिए; और उसके लिए जितनी ही कम धूल होगी उतना ही बेहतर होगा। अधिवक्तागण अपने सूक्ष्म आकलन के अनुसार तराजू के अपने-अपने पलड़े में बाट चढ़ाते रहें, किंतु न्यायाधीश अंत में निर्णय करता है कि तराजू किधर झुकती है, चाहे वह कितनी

बयान व बहस में न्यायाधीश द्वारा हस्तक्षेप

[संकलित]

क्या साक्ष्य या बहस सुनने के दौरान पीठासीन अधिकारी को मुंह बांधे बैठे रहना चाहिए ? उसे कभी-कभी यह लग सकता है कि बयान दे रहा साक्षी पूछे गए प्रश्न का स्पष्ट उत्तर नहीं दे रहा है; या कि वह बराबर अपनी बात बदल रहा है; या कि प्रतिपरीक्षा[1] करने वाला वकील साक्षी के सीधेपन का लाभ उठाने का प्रयत्न कर रहा है; या कि वह साक्षी का ऐसी बात कहना प्रकट कराने का प्रयत्न कर रहा है जो कहने के लिए साक्षी तैयार नहीं है; या कि वकील स्पष्टत: बेतुकी या भ्रामक बहस कर रहा है; या कि वह अपने द्वारा पेश की गई नजीर का गलत अर्थ कर रहा है, आदि, आदि। न्यायाधीश असमंजस में पड़ जाता है कि इस स्तर पर अपनी बात कहूं या नहीं। क्या उसे पाषाणमूर्ति के समान बैठे रहना चाहिए ? यदि वह हस्तक्षेप करता है तो वह जिस पक्षकार या वकील के विरुद्ध पड़े क्या वह उसे गलत समझेगा ?

इसका कोई टकसाली जवाब नहीं है। पीठासीन अधिकारी का आचरण स्थिति पर निर्भर करेगा। यदि न्यायाधीश उस स्तर पर कोई बात कहता है तो उससे यही नहीं समझा जाना चाहिए कि उसने अपनी राय कायम कर ली है। बहुधा तो उसके अपने अनन्तिम विचार प्रकट करने और बहस के दौरान वकील से प्रश्न करने से वकील उसके समक्ष के मामले के ऐसे अन्य पक्ष भी प्रस्तुत करने की स्थिति में हो जाता है जो वह अन्यथा प्रस्तुत नहीं करता। न्यायाधीश के हस्तक्षेप करने से उसके मन का वह संदेह प्रकट हो जाता है जिसको वकील को आशंका नहीं थी और ऐसी दशा में न्यायाधीश के मौन रहने से उसे भ्रान्ति ही हो सकती थी।

प्रत्येक न्यायाधीश की निष्पक्षता और बुद्धिमता का अवधारण अधिवक्तागण अपने-अपने अनुभव के आधार पर किये रहते हैं। वे हमेशा यह निष्कर्ष तुरन्त नहीं निकालते कि न्यायाधीश द्वारा व्यक्त किए गए विचार उनकी पूर्वधारणा के सूचक हैं। यदि वकील द्वारा प्रस्तुत प्रस्थापना[2] स्पष्टत: सही हो तो न्यायाधीश वही कह सकता है कि वह उससे सहमत है, जिससे कि वकील उसे और फैलाकर

---

1. Cross-examination. 2. Proposition

भी कम झुके। इसी प्रकार से अधिवक्ताओं का यह कर्तव्य होता है कि अपनी-अपनी बारी से साक्षियों की परीक्षा करें। न्यायाधीश को यह कार्य अपने ऊपर नहीं लेना चाहिए, अन्यथा कहीं ऐसा न हो कि यह लगे कि वह अमुक का पक्ष ले रहा है। अधिवक्ता का कर्तव्य होता है कि अपना पक्ष अपनी सामर्थ्य के अनुसार सरलतम और सबलतम ढंग से प्रस्तुत करे। उसमें हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए, अन्यथा उसके तर्कों का तारतम्य टूट जाता है। इस सब में न्यायाधीश की भूमिका इतनी ही है कि दिए जाने वाले साक्ष्य को सुने और साक्षियों से स्वयं तभी प्रश्न करे जबकि किसी छोड़ी गई या अस्पष्ट रूप से कही गई बात को स्पष्ट कराना हो। उसका यह भी कर्तव्य होता है कि उचित व्यवहार रखे और विधिविहित नियमों का पालन करे। उसे विसंगत[1] बातें नहीं आने देनी चाहिए और पुनरावृत्ति का रोकना चाहिए। बुद्धिमत्तापूर्ण हस्तक्षेप द्वारा वह यह सुनिश्चित करे कि वह अधिवक्ता द्वारा प्रस्तुत की गई बातें समझ रहा है और उनका मूल्यांकन कर सकता है। और अंत में, उसे चाहिए कि निर्णय करे कि सत्य किधर है। यदि वह इसके आगे बढ़ता है तो वह न्यायाधीश का जामा उतार कर अधिवक्ता का जामा पहन लेता है और यह परिवर्तन उसको शोभा नहीं देता। लार्ड चांसलर बेकन ने ठीक ही कहा था कि धैर्य और गांभीर्य न्याय के लिए आवश्यक है; न्यायाधीश का अधिक बोलना मधुर नहीं लगता।"

"निश्चय ही इसमें संदेह नहीं किया जा सकता है कि साक्षी के बयान के किसी भी स्तर पर हस्तक्षेप करने का न्यायाधीश का हक ही नहीं दायित्व भी होता है, किन्तु यह तभी जब साक्ष्य की तकनीकी प्रकृति के कारणों या अन्य कारणों से वह यह समझे कि अपने प्रश्न पूछकर ही वह ठीक से समझ पाएगा कि साक्षी क्या कह रहा है, और तभी वह उसके बयान की ठीक समीक्षा कर पायगा। फिर भी अनेक कारणों से यह प्रत्यक्ष है कि ऐसा हस्तक्षेप साक्षी की प्रतिपरीक्षा के दौरान यथासम्भव कम होना चाहिए। साक्षी के बयान की उचित परख प्रतिपरीक्षा द्वारा ही होती है, और यदि साक्षी को टेढ़े प्रश्नों का उत्तर सोचने के लिए समय मिल जाता है तो अधिवक्ता द्वारा की जाने वाली प्रतिपरीक्षा बहुत कम प्रभावी रह जाती है। प्रतिपरीक्षा का सार ही प्रश्नोत्तर के सतत क्रम में है। फिर इससे प्रतिपरीक्षा करने वाले अधिवक्ता को बहुत असुविधा होती है कि उसे पूछताछ की उस पूर्व-चिन्तित रूपरेखा के अनुसार चलने नहीं दिया जाता जिससे उसकी दृष्टि में बहुत सम्भावना है कि साक्षी सही बात उगलेगा या मुख्य परीक्षा

1. Irrelevent.

में कही गई बात को परिवर्तित कर देगा। न्यायाधीश द्वारा अत्यधिक हस्तक्षेप से प्रतिपरीक्षा की उपर्युक्त दोनों बातों के बारे में प्रभावकारिता कम हो जाती है, क्योंकि उससे एक ओर तो साक्षी को कठिन प्रश्नों का उत्तर देने के पूर्व सोचने के लिए उपयोगी समय मिल जाता है और दूसरी ओर प्रतिपरीक्षा करने वाले अधिवक्ता को अपने पूर्वचिंतित मार्ग से विचलित होना पड़ता है, और फिर उस मार्ग पर लौटना उसके लिए कभी-कभी कठिन हो जाता है।"

—: 0 :—

विवादानुगतं पृष्ट्वा ससभ्यस्तत्प्रयत्नतः ।
विचारयति येनासौ प्राड्विवाकस्ततः स्मृतः ॥

—मिताक्षरा 2-2 से ॥

संस्कृत भाषा में न्यायाधीश को 'प्राड्विवाक' कहते है। उसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार बताई गई है कि पहले वह पूछताछ करता है और फिर विवेचन करता है।

—: 0 :—

न्यायाधीशों को वाक्पटु होने की अपेक्षा विद्वान अधिक होना चाहिए; दृश्यतः मान्य होने की अपेक्षा वस्तुतः सम्मान्य अधिक होना चाहिए; आत्म-विश्वासी होने की अपेक्षा विमर्शकारी अधिक होना चाहिए; सभी बातों में, ईमानदारी ही उनका दाय है, और वही उनका उचित गुण है.....अन्यायी न्यायाधीश न्याय के स्रोत को ही कलुषित कर देता है।

—बेकन

—: 0 :—

निर्णय लेखन

-न्यायमूर्ति श्री कैलाश नाथ ओझल

निर्णय का महत्व :-प्रत्येक मुकदमे कि परिसमाप्ति निर्णय में होती है, चाहे वह सिविल (दीवानी का) हो या दाण्डिक (फौजदारी का)। निर्णय लिखना मात्र औपचारिकता नहीं है, वह कार्यवाही का सबसे महत्वपूर्ण भाग होता है। उससे पक्षकारों के संपत्ति या स्वतंत्रता के विषय भाग्य का फैसला होता है।

निस्संदेह विचारण न्यायालय[1] का निर्णय अन्तिम नहीं होता, और न निचले अपील न्यायालय का निर्णय ही अन्तिम होता है। किन्तु उस बात को लेकर विचारण न्यायालय का पीठासीन अधिकारी निर्णय लिखने का कार्य बिना सोचे-विचारे या अनायास नहीं कर सकता। उसे इस बात को सामने रखकर कार्य नहीं करना चाहिए कि उसके निर्णय को भूलों के सुधार के लिए उच्चतर न्यायालय तो है ही।

चर्चा क्रम :-पीठासीन अधिकारियों की एक सामान्य त्रुटि यह होती है कि वे निर्णय के प्रारम्भ में पक्षकारों के साक्षियों के बयान तो आवश्यकता से अधिक विस्तार से दे देते हैं और फिर यकायक अपना निष्कर्ष बिना विरोधी तर्कों का विश्लेषण या उनकी समीक्षा किए लिख देते हैं। "निष्कर्ष" अलग होता है, और उसके "कारण" अलग होते हैं। न्यायाधीश से अपेक्षा यह की जाती है कि वह अपना निष्कर्ष लिखने के साथ ही उसके कारण अवश्य लिखे, केवल निष्कर्ष नहीं। लघुवाद न्यायालय के निर्णय में भी कारण होने चाहिए, भले ही वे बहुत संक्षेप में दिये जाएँ।

किसी एक साक्षी का बयान दो या तीन विचारणीय प्रश्नों पर हो सकता है। यदि उसका आप पूरा बयान निर्णय में एक ही स्थान पर (भले ही वह संक्षेप में हो) लिखने के बाद उन सभी प्रश्नों पर दूसरे साक्षी का बयान लिख देते हैं, और इसी प्रकार एक के बाद एक साक्षी के बयानों का विवरण अपने निर्णय में लिखते चले जाते हैं तो उससे भ्रान्ति उत्पन्न होगी। होना यह चाहिए कि जिस विचारणीय प्रश्न की आप चर्चा कर रहे हैं साक्षी के बयान के उससे

---

1. Trial court.

संख्या लिखने में लिखने या टाइप की भूल भी हो सकती है और उस दशा में उच्चतर न्यायालय के लिए यह पता लगाना कठिन हो जाएगा कि आप किस नजीर का उल्लेख करना चाहते थे।

यह भी आवश्यक है कि किसी नजीर का हवाला देने के पहले उसे पूरा पढ़ लें। केवल डाइजेस्ट या किसी व्याख्या[1] में किए गए उल्लेख के आधार पर नजीर का हवाला देना उचित नहीं है। नजीर का केवल शीर्ष टिप्पण[2] पढ़ लेना भी पर्याप्त नहीं है। शीर्ष टिप्पणी सम्पादकों द्वारा तैयार किया जाता है और हो सकता है कि उसमें दिया गया नजीर का संक्षेप सही न हो। किन्तु यदि आपने पूरी नजीर को पढ़कर अपना समाधान कर लिया है कि शीर्ष टिप्पण में नजीर का सही सार दिया गया है तो आप उस को उद्धृत कर सकते हैं।

भाषा :— निर्णय की भाषा सरल एवं स्वाभाविक होनी चाहिए। सामान्यतः लम्बे वाक्यों से बचना चाहिए। हिन्दी के निर्णयों में स्वाभाविक एवं सरल हिन्दी का प्रयोग होना चाहिए, लगभग वही जो आपके सामने बहस में प्रायः बोली जाती है, न कि अनावश्यक रूप से संस्कृतनिष्ठ हिन्दी का हाँ जहाँ तक तकनीकी शब्दों का सम्बन्ध है, शासन द्वारा अनुमोदित पर्यायों का ही प्रयोग होना चाहिए। यदि कानून का प्रमाणिक हिन्दी पाठ उपलब्ध हो तो उसमें प्रयुक्त शब्दों का प्रयोग होना चाहिए। यदि कोई शब्द भारत सरकार द्वारा प्रकाशित "विधि शब्दावली" में दिया गया हो तो उसी में दिये गये पर्याय का प्रयोग होना चाहिए। किन्तु यदि शब्द तकनीकी अर्थ में प्रयुक्त नहीं है तो प्रचलित पर्याय का भी प्रयोग किया जा सकता है। अंग्रेजी की नजीर के उद्धरण का अनुवाद अनिवार्य नहीं है, वह अंग्रेजी में ही दिया जा सकता है।

लोग प्रायः अंग्रेजी लिखते समय तो वर्तनी[3] का ध्यान रखते है, किन्तु हिन्दी लिखते समय दुर्भाग्यवश उसकी उपेक्षा कर देते हैं। आखिर हिन्दी भाषा (खड़ी बोली) में भी मानक[4] वर्तनी है। इसके लिए आपको अपने पास हिन्दी शब्द कोश तथा अंग्रेजी-हिन्दी शब्दकोश रखना चाहिए, जैसे कि कामिल बुल्के या चेम्बर्स का शब्द कोष। प्रयुक्त भाषा स्पष्ट होनी चाहिए तथा निष्कर्ष दृढ़तापूर्वक लिखा जाना चाहिए। न कि पशोपेश हिचकिचाहट के साथ। यह अवश्य है कि यदि किसी विषय में उचित संदेह हो तो आपको वह बात कह

---

1. Commentary.
2. Head note.
3. Spelling.
4. Standard

यदि आप अपनी राय कायम किये बिना निर्णय लिखना प्रारम्भ कर देंगे तो आपका निर्णय दिशाविहीन, असंबद्ध और दुविधापूर्ण हो जाएगा। राय कायम करने की प्रक्रिया का प्रारम्भ बयान तथा बहस होते समय ही हो जाना चाहिए और बहस पूरी होने के समय तक आपको सामान्यतः ऐसी स्थिति में होना चाहिये कि अपने निष्कर्ष बता सकें। किन्तु ऐसा सदैव नहीं हो सकता। यदि मुकदमा लम्बा या जटिल हो तो आपको नजीरों का अध्ययन निश्चिन्तता से करना आवश्यक हो सकता है या यह आवश्यक हो सकता है कि मामले की फाइल का अध्ययन सावधानी से घर पर करें। ऐसे मामलों में निर्णय आरक्षित[1] किया जाना चाहिए। किन्तु निर्णय लिखना प्रारम्भ तभी करें जब आप अपनी राय कायम कर लें। बड़े मामलों में यह बेहतर होता है कि विचार-बिन्दु अपने हाथ से नोट कर लें और यह निश्चित कर लें कि आपको अपने निर्णय में उनकी चर्चा किस क्रम से करनी है। ये संक्षिप्त नोट निर्णय आरक्षित करने के बाद मुकदमे का अध्ययन करने के दौरान तैयार करने होंगे। निस्सन्देह बहस के दौरान किये गये नोटों का उपयोग आप अपनी राय कायम करने में करेंगे; किन्तु निर्णय बोलने की तैयारी के रूप में जो नोट आप तैयार करेंगे वे अलग होंगे तथा वे विचारण के समय लिये गये नोटों के बाद में तैयार किये जायेंगे।

साक्षियों का निर्देश :- किसी साक्षी का उल्लेख करते समय केवल अ०सा० 1 (अभियोजन साक्षी 1 : पी० डब्लू० 1), या अ० सा० 2 या प्रति० सा० 3 (प्रतिरक्षा साक्षी 3 : डी० डब्लू० 3) न लिखें। उस साक्षी की क्रम संख्या देने के साथ-साथ उसके नाम का उल्लेख अवश्य करना चाहिये।

नजीरों का हवाला :-इसी तरह नजीरों का हवाला देते समय केवल इतना लिखना सही नहीं है : "1955 इलाहाबाद 134" या "30 बम्बई 25" आपको चाहिए कि सम्बन्धित पत्रिका का नाम लिखें, चाहे वह आ० इं० रि० (आल इण्डिया रिपोर्टर) हो, या इं०ला०रि० (इण्डियन ला रिपोर्टस) हो, या कोई अन्य पत्रिका हो। इण्डियन ला रिपोर्टस के सम्बन्ध में आपको वर्ष का उल्लेख करने के साथ साथ उसके खण्ड का भी उल्लेख करना होगा, क्योंकि एक वर्ष में उसके कई खण्ड होते हैं। किन्तु आ० इं० रि० के विषय में आपको खण्ड न लिखकर केवल वर्ष लिखना होगा। इसके अतिरिक्त पक्षकारों के नाम भी लिखे जाने चाहिए। यह इस कारण भी आवश्यक है कि केवल वर्ष या पृष्ठ

---

1. Reserve.

देनी चाहिए, किन्तु आपका निष्कर्ष संदेहपूर्ण या हिचकिचाहट-भरी भाषा में नहीं होना चाहिए।

अनावश्यक शब्द-विस्तार[1] से भी बचना चाहिए। साहित्यिक अलंकार स्वयं आपको प्रसन्न कर सकते हैं, किन्तु आपके ऊपर का अपील न्यायालय कभी उनका परिहास भी कर सकता है। निर्णय में पांडित्य दिखाने का प्रयत्न नहीं होना चाहिए।

यह स्मरणीय है कि जब दोनों ओर सशपथ बयान हों तो घटना के विषय में पूर्ण निश्चितता बिरले ही मामलों में हो सकेगी। ऐसी दशा में नैतिक निश्चितता[2] से कार्य करना होगा। जैसा कि साक्ष्य अधिनियम में कहा गया है, कोई तथ्य साबित हुआ तब माना जाएगा जब न्यायालय अपने समक्ष की सामग्री पर विचार करने के बाद या तो उसके अस्तित्व का विश्वास करे या उसका अस्तित्व उसे इतना अधिसंभाव्य[3] लगे कि उस मामले की परिस्थितियों में कोई प्रज्ञावान्[4] व्यक्ति यह मानकर चलेगा कि उसका अस्तित्व है।

साक्षी के बयान की चर्चा करते समय कड़े विशेषणों का प्रयोग नहीं करना चाहिए। किसी साक्षी को "बकवास करने वाला झूठा" कहना उचित नहीं न यह उचित है कि उसके बयान को 'सफेद झूठ' कहा जाए या उसे गाली दी जाए। यदि आप किसी साक्षी का अविश्वास करें तो वह बात कहने में आपको संकोच नहीं होना चाहिए। किन्तु वह बात सीधे तौर पर यह कहकर की जा सकती है कि उसका बयान असंगत या आत्मविरोधी है या यह कि वह मामले के निर्विवाद तथ्यों या परिस्थितियों से मेल नहीं खाता। या आप कह सकते हैं कि अमुक दस्तावेज या अमुक परिस्थिति साक्षी के बयान को झुठला देती है। यह कहने की बजाय कि साक्षी झूठ बोल रहा है आप कह सकते हैं कि पूर्व चर्चित परिस्थितियों को देखते हुए साक्षी का बयान मानना कठिन है। जहां दोनों ओर से सशपथ बयान हों वहां आप कह सकते हैं कि पहले बताए कारणों से 'ख' की अपेक्षा 'क' का बयान अधिक मान्य है।

निर्णय में पक्षकारों, गवाहों अथवा अन्य लोगों के सम्बन्ध में निन्दात्मक टिप्पणी[5] करने से भी सामान्यतः बचना चाहिये। ऐसी टिप्पणी केवल उस दशा में की जानी चाहिए जब वह निर्णय के लिये अति आवश्यक लगे और उसका

---

1. Verbosity. 2. Moral certainty. 3 Probable.
4. Prudent. 5. Strictures.

अभिन्न अंग बन सके और सम्बन्धित व्यक्ति को अपना स्पष्टीकरण देने का अवसर मिल चुका हो। किसी भी दशा में टिप्पणी संयत भाषा में होनी चाहिये। यह स्मरणीय है कि शालीनता न्यायिक अधिकारी का एक आवश्यक गुण है।

नजीरों का बाहुल्य नहीं :–यह भी वांछनीय नहीं है कि आप बहुत सी नजीरों का उल्लेख करके अपने पांडित्य का प्रदर्शन करें। नजीरों के लम्बे उद्धरण भी नहीं दिये जाने चाहिये। किन्तु ऐसी नजीर का उल्लेख अवश्य होना चाहिये जिसका किसी अधिवक्ता ने विशेषत: आश्रय लिया हो और जो आपके निष्कर्षों के प्रतिकूल लगे। यदि आप उसका उल्लेख नहीं करेंगे तो उसे इस शिकायत का अवसर मिलेगा कि आपने उस नजीर को जानबूझकर छोड़ दिया जो आपको अनुकूल नहीं लगी। यदि कोई अधिवक्ता आग्रह करे कि अमुक नजीर उसके पक्ष का समर्थन करती है, किन्तु आप उस बात को नहीं मानते तो उचित यह है कि आप उस नजीर का उल्लेख करके यह लिख दें कि किस प्रकार वह उसके तर्क का समर्थन नहीं करती या कि उसके तथ्य किस प्रकार भिन्न थे। एक ही विचार व्यक्त करने वाली नजीरों की आवृत्ति नहीं होनी चाहिये। केवल नवीनतम या सर्वाधिक मान्य नजीर का उल्लेख होना चाहिये, शर्त यह है कि वह मामले में पूरी तौर से लागू होती हो।

हमारे उच्च न्यायालय के प्रख्यात न्यायाधीश न्यायमूर्ति श्री वाल्श ने पचास से भी अधिक वर्ष पूर्व न्यायिक अधिकारियों के एक सम्मेलन को सम्बोधित करते समय बहुत सी उपयोगी बातें बहुत ही सुन्दर ढंग से कही थी।[1] उनकी ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है।

---

1. पृष्ठ 28 देखिये।

–: 0 :–

कानून का उल्लेख

— डा० मोती बाबू

सामान्यत: प्रत्येक आदेश किसी न किसी विधि के अधीन होता है और उसमें किसी न किसी कानून का हवाला देना होता है। प्राय: वह कानून इनमें से कोई होता है :-

1. संविधान; 2. अधिनियम; 3. अध्यादेश;
4. नियम; 5. विनियम; 6. उपविधि, व 7. आदेश।

1. **संविधान** :-संविधान हमारे देश की मूलभूत एवं उच्चतम विधि है और अन्य सारे कानून उसके अन्तर्गत और उसके उपबन्धों के अनुसार बनते हैं। हमारे संविधान का पूरा नाम "भारत का संविधान" है, देखिये-अनुच्छेद 393 क्योंकि भारत में एक ही संविधान है अत: केवल "संविधान" कहने से भी काम चल जाता है। किन्तु यदि संविधान में संशोधन करने वाले किसी अधिनियम का उल्लेख करना हो तो उसका पूरा नाम देना होगा, जैसे संविधान (चवालीसवां संशोधन) अधिनियम, 1978।

संविधान के सबसे प्रारम्भ में "उद्देशिका" है, जिसे अंग्रेजी में "प्रिम्बल" कहते हैं। संविधान के दो भाग है, एक मुख्य भाग और दूसरे अनुसूचियां।[1] मुख्य भाग धाराओं के रूप में है; किन्तु इन्हें "धारा" न कहकर "अनुच्छेद"[2] कहते हैं। अनुच्छेद के जो संख्यांकित स्वतन्त्र भाग होते हैं उन्हें "उपधारा" या "उपअनुच्छेद" न कहकर "खण्ड"[3] कहते हैं। ("खण्ड" शब्द का प्रयोग उन भागों के लिये भी होता है जो व्याकरण की दृष्टि से स्वतन्त्र नहीं होते।) खण्ड का और विभाजन होने पर उन्हें "उपखण्ड"[4] कहते है। अनुच्छेद या खण्ड के अन्त में कभी-कभी एक प्रतिबंधात्मक या अपवादात्मक खण्ड जुड़ा होता है जो "परन्तु" से प्रारम्भ होता है। इसे "परन्तुक"[5] कहते हैं। जहां एक से अधिक परन्तुक हो वहां, चाहे वे संख्यांकित हों या नहीं, उन्हें "प्रथम परन्तुक" "द्वितीय परन्तुक" आदि कहा जाता है। परन्तुक के विभागों को "खण्ड" कहते हैं।

---

1. Schedules. 2. Articles. 3. Clause. 4. Sub-clause. 5. Proviso.

प्रत्येक अनुच्छेद के प्रारम्भ में जो शीर्षक होता है वह पार्श्वशीर्षक[1] कहलाता है। मूलतः यह अनुच्छेद या धारा के पार्श्व में ही दिया रहता है। किन्तु बाद में, विशेषतः गैरसरकारी प्रकाशनों में, यह अनुच्छेद या धारा की क्रम-संख्या के बाद रख दिया जाता है जिससे वह उसका भाग-सा लगने लगता है। शीर्षक जब पार्श्व में न होकर ऊपर बीच में होता है तो वह केन्द्रीय शीर्षक[2] कहलाता है। केन्द्रीय शीर्षक प्रत्येक अनुच्छेद या धारा पर न होकर उनके संग्रह पर होता है और भाग, अध्याय या अनुभाग के शीर्षक के रूप में रहता है। दोनों ही शीर्षकों का महत्त्व अनुच्छेद या धारा का अर्थ करने में होता है, यद्यपि वे अनुच्छेद या धारा के अभिन्न अंग नहीं होते।

2. **अधिनियम** :—पुराने अधिनियमों के प्रारम्भ में बहुधा एक खण्ड या पैरा होता था जिसमें अधिनियम बनाने का उद्देश्य दिया होता था। यह प्रायः "यतः"[3] से प्रारम्भ होता था। नए अधिनियमों में यह नहीं रहता क्योंकि अब जब अधिनियम का विधेयक विधान-मण्डल में पेश किया जाता है तो उसके साथ "उद्देश्यों और कारणों का कथन"[4] अलग से दे दिया जाता है, जिसमें विधायन का पूरा उद्देश्य विस्तारपूर्वक दिया रहता है। सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 की उद्देशिका इस प्रकार है : "यतः यह समीचीन है कि सिविल न्यायालय की प्रक्रिया से सम्बन्धित विधियों का समेकन और संशोधन किया जाए"।

यह उद्देशिका अधिनियम के बृहत् नाम[5] से भिन्न होती है। जैसा कि हम आगे देखेंगे, बृहत् नाम में अधिनियम का पूरा नाम रहता है, जबकि उद्देशिका में यह बताया जाता है कि अधिनियम क्यों बनाया गया। इसीलिए उद्देशिका प्रायः "यतः" से प्रारम्भ होती है। उल्लेख करते समय उद्देशिका और बृहत नाम का यह अन्तर ध्यान में रखना चाहिए। इस विषय में अनेक स्तरों पर भ्रांति देखने में आई है।

प्रत्येक अधिनियम का अपना नाम होता है। ये नाम दो होते हैं : (i) बृहत् नाम, अर्थात् पूरा नाम, और (ii) संक्षिप्त नाम[6]। "सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908" उस अधिनियम का संक्षिप्त नाम है। उसका बृहत् नाम है "न्यायालय की प्रक्रिया से सम्बन्धित विधियों का समेकन और संशोधन करने के

---

1. Marginal heading. 2 Central heading. 3. Whereas.
4. S.O.R. i. e. Statement of Objects and Reasons. 5. Long title
6. Short title

(3) जहाँ कि निर्णीतऋणी को सिविल कारागार को सुपुर्द कर दिया गया है वहाँ उसकी वहाँ से निर्मुक्ति -

(क) किसी संक्रामक या स्पर्शजन्य रोग के अस्तित्व के आधार पर राज्य सरकार कर सकेगी, अथवा

(ख) सुपुर्द करने वाला न्यायालय या ऐसा कोई न्यायालय जिसके अधीनस्थ वह न्यायालय है, उस निर्णीतऋणी के किसी गम्भीर रोग से पीड़ित होने के आधार पर कर सकेगा।

(4) इस धारा के अधीन निर्मुक्त निर्णीतऋणी पुनः गिरफ्तार किया जा सकेगा, किन्तु सिविल कारागार में उसके निरोध की संकलित[1] कालावधि धारा 58 द्वारा विहित कालावधि से अधिक न होगी।"

यह सम्पूर्ण सामग्री एक धारा है। (1), (2), (3) व (4) उसकी उपधाराएं हैं। उपधारा (3) में दो खण्ड हैं, (क) व (ख) यदि यह उपधारा (3) उपधारा न होकर स्वतन्त्र धारा होती तो भी उसके खण्ड (क) व (ख) "खण्ड" ही कहलाते क्योंकि वे स्वतन्त्र न होकर प्रारम्भ में आने वाले शब्द "जहांकि निर्मुक्ति" से जुड़े हुए हैं।

अधिनियम में बहुधा अनुसूची जुड़ी रहती है जिसको विभिन्न प्रविष्टियों को उनकी रचना के अनुसार "खण्ड", "मद" या "प्रविष्टि" कहते हैं। कहीं-कहीं "पैरा" शब्द का भी प्रयोग किया जाता है। परिसीमा अधिनियम, 1963 में इन्हें अनुच्छेद[2] कहा गया है। इसी लिए कहा जाता है कि यहां परिसीमा के विषय में अमुक अनुच्छेद लागू होता है।

सिविल प्रक्रिया संहिता में दो अनुसूचियां दी गयी हैं। प्रथम अनुसूची "आदेशों" में विभाजित है। इन आदेशों के क्रमसंख्यांकित विभिन्न वाक्यों को "नियम" ही कहते हैं और वास्तव में यह अनुसूची संहिता के अधीन बनाई गई नियमावली का ही प्रभाव रखती है। इसी लिए इसके अंशों के लिए "नियम" शब्द का प्रयोग होता है।

अधिनियमों में भी परन्तुक, पार्श्वशीर्षक व केन्द्रीय शीर्षक होते हैं जिनका उल्लेख संविधान के संदर्भ में हो चुका है।

---

1. In the aggregate 2. Article.

3 **अध्यादेश** :–संसद् के दोनों सदन सत्र में न होने के दौरान यदि तुरन्त विधायी कार्यवाही करना आवश्यक लगे तो राष्ट्रपति संविधान के अनुच्छेद 123 के अधीन अध्यादेश[1] प्रख्यापित[2] कर सकते हैं। इसी प्रकार की शक्ति प्रत्येक राज्य के राज्यपाल को अपने विधानमण्डल के सत्र में न होने की दशा में संविधान के अनुच्छेद 213 के अधीन प्राप्त है। अध्यादेशों तथा उनके विभिन्न अंशों का उल्लेख उसी प्रकार किया जाता है जिस प्रकार कि अधिनियम व उसके विभिन्न अंशों का। विश्वविद्यालयों के अध्यादेशों की स्थिति अलग है।

4. **नियम** :–बहुत से अधिनियमों में यह व्यवस्था रहती है कि सरकार या अमुक प्राधिकारी इस अधिनियम के उद्देश्यों को क्रियान्वित करने के लिये नियम बना सकता है। तदनुसार नियम बनाये जाते हैं। इस प्रकार की हजारों नियमावलियां हैं। प्रत्येक नियमावली में उसका अपना नाम दिया रहता है, जो बहुत कुछ उसी प्रकार का होता है जैसा कि अधिनियम का। किन्तु नियमावली के नाम में कभी "नियमावली" शब्द का प्रयोग होता है और कभी केवल "नियम" का। प्रत्येक नियमावली में अलग-अलग संख्यांकित नियम दिये रहते हैं। यदि किसी नियम का विभाजन संख्यांकित स्वतन्त्र वाक्यों के रूप में हो तो प्रत्येक संख्यांकित वाक्य "उपनियम" कहलायेगा, जैसे कि अधिनियम के विषय में धारा के स्वतन्त्र वाक्यों को "उपधारा" कहते हैं। यदि ये विभिन्न अंश किसी और मुख्य वाक्य से जुड़े हों तो उन्हें "खण्ड कहते है।

5. **विनियम**[3] :–अधिनियम या नियमों द्वारा प्रायः किसी प्राधिकारी को विनियम बनाने की शक्ति दी जाती है। नियम और विनियम की पूर्ण व्याख्या करके उनका अंतर बताना सम्भव नहीं है क्योंकि प्रारूपकार[4] की सुविधा और परम्परा के अनुसार इन शब्दों का प्रयोग होता रहता है। बहुधा एक ही अधिनियम में नियम और विनियम दोनों बनाने की शक्ति रहती है। इनमें नियम की प्रधानता रहती है और वे प्रायः सरकार द्वारा बनाये जाते हैं। विनियम अपेक्षाकृत गौण होते हैं और वे प्रायः अन्य प्राधिकारी द्वारा बनाये जाते हैं। प्रत्येक विनियमावली के नाम में "विनियम" या "विनियमावली" शब्द आता है और सामान्यतः वर्ष का भी उल्लेख रहता है।

---

1. Ordinance.
2. Promulgate.
3. Regulations.
4. Draftsman

6. **उपविधि**[1] :–"उपविधि" शब्द का प्रयोग प्रायः नगरपालिका, आदि स्थानीय निकायों[2] द्वारा बनाए जाने वाले कानूनों के लिए होता है। उसकी कोई अलग परिभाषा नहीं है। जहाँ कानून उपविधि बनाने की शक्ति प्रदान करता है वहाँ उसके अधीन बनाई गई विधि "उपविधि" ही कहलाती है। उपविधि के विभिन्न संख्यांकित स्वतन्त्र वाक्यों को कहीं "उपविधि" कहते हैं और कहीं "खण्ड"। अधिकांशतः "उपविधि" शब्द का ही प्रयोग होता है, जैसे उपविधि संख्या 1, उपविधि संख्या 2, आदि।

7. **आदेश** :–आदेश भी किसी प्राधिकारी द्वारा किसी अधिनियम या नियम के अधीन निकाले जाते हैं, जैसे कि आवश्यक वस्तु अधिनियम, 1955 के अधीन अनेक आदेश निकाले गए हैं। इनके अंश प्रायः "खण्ड" और कहीं-कहीं "पैरा" कहलाते हैं। सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 की अनुसूची में दिए गए आदेशों की स्थिति अलग है। जैसा कि पहले बताया गया, उनके अंश "नियम" कहलाते हैं।

अपने निर्णयों व आदेशों में किसी कानून का हवाला देते समय यह ध्यान रखें कि हिन्दी या अंग्रेजी किस भाषा में लिखें उस भाषा में उसका सही नाम लिखें तथा उसके विभिन्न अंशों का उल्लेख भी सही तौर पर करें। अच्छा यह होगा कि संबंधित कानून में ही देख लें कि उसके विभिन्न अंशों का उल्लेख उसमें किस प्रकार किया गया है। स्पष्टीकरण या परन्तुक के विषय में देख लें कि वह धारा का है या उपधारा का, या खण्ड का, और उसका उल्लेख तदनुसार ही करें।

---

1. Bye-laws. 2. Local bodies.

—: 0 :—

प्राञ्जल भाषा परिष्कृत मस्तिष्क की द्योतक होती है।

(क) जो किया गया उसका कारण क्या था;

(ख) उसकी परिस्थितियां क्या थीं (नीचे द्वितीयतः का (ख) देखिए);

(ग) उसको घटना के समय किस प्रकार लिया गया।

द्वितीयतः साक्षी के बयान को निम्नलिखित कारणों से अविश्वसनीय ठहराया जाय।

[क] स्वयं साक्षी से सम्बन्धित कारणों से–

(i) कि वह सामान्यतः बुरे आचरण वाला है;

(ii) कि वह सत्यवादी नहीं है;

(iii) कि प्रश्नगत विषय में उसका आचरण अच्छा नहीं रहा है;

(ख) कि वह निष्पक्ष नहीं है, इस कारण कि–

(1) वह दूसरे पक्षकार का मित्र है क्योंकि–

(i) दूसरा पक्षकार उसका रिश्तेदार है;

(ii) दूसरे पक्षकार ने उस पर अनुग्रह किया है;

(iii) भ्रष्टाचार हुआ है;

(2) वह प्रतिपरीक्षा करने वाले पक्षकार का विरोधी है, क्योंकि–

(i) विरोधी पक्षकार ने उसे दण्डित किया था या उसे अनुचित हानि पहुंचाई थी;

(ii) दृश्यतः वह उससे बदले की भावना के साथ बोल रहा है या पहले उसने उसे क्षति पहुंचाई थी;

[ग] साक्षी के अपने साक्ष्य के आधार पर, और यह उससे ऐसा अतिरिक्त बयान दिलाकर, जो–

(1) कारणों और संभाव्यताओं से–

(i) पूर्णतः असंगत हो;

(ii) इस मामले की परिस्थितियों में असंगत हो (जैसे कि उसे प्रश्नगत बात तो याद है किन्तु उतनी पुरानी अन्य बात याद नहीं है);

(2) निर्विवाद रूप से विश्वसनीय साक्षियों के बयानों से असंगत है;

(3) मामले के निर्विवादित अंश से असंगत है;

(4) उससे असंगत है जो स्वयं उसने पहले कहा–

(क) किसी अन्य पूर्व अवसर पर;

(ख) प्रस्तुत बयान में ही–

(i) मुख्य परीक्षा के दौरान;

(ii) प्रतिपरीक्षा में ही पहले;

(5) उससे असंगत है जो उस पक्षकार के अन्य साक्षी ने उसी विषय में कहा। इससे यह प्रकट होगा कि यह अंतर इस बात का सूचक है कि पूरा कथानक गढ़ा हुआ है, अथवा इस बात का कि दो में से एक सत्य बोल रहा है और दूसरा असत्य तथा यह स्पष्ट नहीं होता कि कौन सत्य बोल रहा है अतः उनमें से किसी का भी विश्वास करना उचित नहीं, अथवा प्रयत्न यह किया जा सकता है कि अधिक महत्त्वपूर्ण साक्ष्य वाले साक्षी को अविश्वसनीय ठहराया जाए।

(6) इस संव्यवहार में स्वयं उसके आचरण से अथवा निर्विवाद रूप से विश्वसनीय साक्षियों के आचरण से असंगत है;

(7) उसकी न्यायालय में भावभंगी[1] से असंगत है (जैसे कि वह कहे कि प्रकोपन के बावजूद शांत रहा और न्यायालय में उसे क्रुद्ध कर दिया जाए।

तृतीयतः उससे सही बताते हुए ऐसा बयान कराया जाए जो–

(क) प्रश्नकर्ता के साक्षियों के साक्ष्य की पुष्टि करें;

(ख) विरोधी पक्षकार के साक्षियों के साक्ष्य का विरोध करे;

(ग) ऐसे तथ्यों के विषय में हो जिन पर पहले बयान नहीं हुआ है; किन्तु यह अधिकतर मुख्य परीक्षा के रूप में होगा।

1. Demeanour.

इनमें से **प्रथमतः** सर्वाधिक दशाओं में उपयोगी होता है। **द्वितीयतः** (क) का आश्रय आशंका के उचित आधारों के बिना नहीं लिया जाना चाहिये। इस पद के अन्तर्गत प्रश्नों के चयन का औचित्य उस दृष्टिकोण पर निर्भर करेगा जो साक्षी की तत्कालीन भावभंगी और मामले की सामान्य प्रकृति से प्रकट हो। यह ठीक ही कहा गया है कि प्रत्येक साक्षी की प्रतिपरीक्षा सम्पूर्ण मामले के संचालन की दृष्टि से की जानी चाहिये।

इस प्रकार यह दिखाने का प्रयत्न करना निस्सन्देह वैध है कि साक्षी ने वह घटना देखी ही नहीं थी या कि उसने वह बात सुनी ही नहीं थी जिसकी बाबत उसने न्यायालय में बयान दिया है। साथ ही न्यायालय को विवेकाधिकार प्राप्त है कि तंग करने वाले और विसंगत प्रश्न न करने दे।

बयानों में अन्तर व भावभंगी :—मौखिक साक्ष्य की समीक्षा करते समय न्यायाधीश को यह स्मरण रखना चाहिये कि मनुष्य की देखने, सुनने, समझने और स्मरण रखने की शक्तियों में पूर्णता नहीं होती। हो सकता है कि किसी मनुष्य ने कोई बात देखी हो और फिर भी उस पर ध्यान न दिया हो। या, हो सकता है कि उसने कोई बात देखी या सुनी हो फिर भी उसे सही विवरण याद न रहे। प्रख्यात विधि लेखक प्रो० ग्लेनविल विलियम्स ने अपराधों के सबूत विषयक अपनी पुस्तक "दि प्रूफ आफ गिल्ट" में कहा है- "स्वभाव, रुचि और दृष्टिकोण से सम्प्रेक्षण[1] और स्मरण रखना प्रभावित होता है—घटनाओं का क्रम एक ऐसी बात है जिसमें सबसे अधिक गड़बड़ी होती है।"

विद्वान् लेखक ने इन्द्रियज्ञान[2] पर भावना[3] के विक्षोभकारी[4] प्रभाव का उल्लेख किया है। उन्होंने प्रो० बार्टलेट द्वारा "स्मृति" के सम्बन्ध में किये गये प्रयोगों का उल्लेख किया। इन प्रयोगों के फलस्वरूप प्रो० बार्टलेट ने निष्कर्ष निकाला कि "बात को शब्दशः सही-सही दोहरा देना अपवाद-स्वरूप ही होता है, सामान्यतः नहीं।" प्रो० विलियम्स आगे कहते हैं—"साक्षी प्रयुक्त शब्दों को न दोहराकर प्रायः यह बताता है कि जो कहा गया उससे उसने क्या समझा, और यह हो सकता है कि जो बात व्यक्त की गई हो वह समझी गई बात से भिन्न हो। लोग प्रायः वही सुनते हैं जो वे सुनना चाहते हैं, और सुनना उत्तेजना या विक्षेप से दुष्प्रभावित हो सकता है। स्मृति विषयक भ्रांति के कारण यह भी हो सकता है कि साक्षी को ऐसी बात देखने या सुनने का विश्वास हो जो उसने

1. Observation.
2. Perception.
3. Emotion.
4. Disturbing.

कभी नहीं देखी सुनी।" कभी-कभी बदलाव हो जाता है, अर्थात् घटना एक अवसर पर हुई और स्मरण दूसरे अवसर पर होने का हो।

सोडरमैन ने आधुनिक दाण्डिक अन्वेषण विषयक अपनी पुस्तक "माडर्न क्रिमिनल इन्वेस्टीगेशन" में कहा है कि जब किसी साक्षी से कहा जाये कि किसी बातचीत को दोहराये तो न्यायालय के सामने बयान का सबसे खतरनाक भाग प्रस्तुत होता है। लोग बोले गये वाक्य की सभी ध्वनियों को नहीं सुनते और जो वे सुनते हैं उसका मन में बसी ध्वनियों से अनमेल होता है और कभी-कभी तो सुनने वाला अपनी कल्पना के आधार पर समान बातें जोड़ देता है।

साक्षी की भावभंगी भी बहुधा निश्चित मानदण्ड नहीं होती है, क्योंकि कुछ झूठे लोग दृढ़ता से बयान दे देते हैं और कुछ साक्षी सत्यवादी होते हुये भी हिचकिचाहट, परेशानी या आत्मविरोध के साथ या भूलते-भूलते बयान देते हैं।

देखी हुई बात और उसके निष्कर्ष के बीच की रेखा स्थिर नहीं होती। मनुष्य की प्रकृति यह होती है कि वह बात को तर्कसंगत बनाये और परेशान करने वाले, विचित्र या अग्राह्य विवरण छोड़ दे। आत्मसंसूचन[1] और विसंसूचन[2] तथा समूह संसूचन[3] भी इन्द्रियज्ञान की शुद्धि को प्रभावित करते हैं। कोई बलवान् सामूहिक भावना से वह वस्तु विकृत हो सकती है जो वस्तुतः देखी और स्मरण रखी गई हो। अंधविश्वास और पुराण गाथाओं के अनेक उदाहरण मिलते हैं जिनमें कि अनेक व्यक्ति जादूगरी[4] से समूह संसूचन द्वारा दुष्प्रभावित हुये।

गोर्के का कहना है कि अनेक साक्षी प्रश्न किए जाने मात्र से भूल कर सकते हैं। प्रश्न में जो बात व्यक्त की गई है वह तत्सम्बन्धी बात मन में स्वतः उत्पन्न कर सकती है, विशेषतः ऐसी बात जो उससे बहुधा जुड़ी रहती है। अथवा प्रश्न से साक्षी को यह आभास हो सकता है कि वह बीच में कुछ भूल रहा है और वह इस कमी को विभिन्न सम्भावनाओं पर विचार करके पूरा करने का प्रयत्न करता है, या अपनी ओर से तर्कसंगत निष्कर्ष जोड़ देता है। और उसकी तो कोई बात ही नहीं जब उत्तर भय या सुझाव के कारण हो या जानबूझकर झूठ बोला जा रहा हो। (प्रो. जी. विलियम्स)।

---

1. Auto-suggestion.
2. Hetro-suggestion.
3. Group-suggestion.
4. Witch-craft.

प्रो. जी. विलियम्स आगे कहते हैं कि भूलों के उक्त कारण तब भी प्रभाव रखते हैं जबकि प्रश्न इस प्रकार का हो कि उसमें किसी उत्तर का सुझाव न हो। यदि प्रश्न उत्तरसूचक[1] हो तो उत्तर की सत्यता और घट जाती है।

कहने का तात्पर्य यह है कि व्यक्ति एक ही घटना की ओर बराबर ध्यान नहीं देते, जो बात वे देखते या सुनते हैं उसको भी वे समान रूप से नहीं समझते, जो वे समझते हैं वह समान रूप से स्मरण नहीं रख पाते और जो वे स्मरण रखते हैं वह समान रूप से व्यक्त नहीं कर पाते, और उनका वर्णन उनकी अपनी-अपनी कल्पनाओं व बुद्धि-क्रीड़ा से प्रभावित हो जाता है, और कभी-कभी प्रश्न करने का ढंग भी उत्तर को प्रभावित कर देता है। अतः साक्षियों के सच्चे होते हुए भी उनके बयानों में अन्तर हो सकता है। देखना यह होगा कि अन्तर कहां तक स्वाभाविक या अस्वाभाविक है।

इस प्रकार साक्षी के बयान को अंतरों और भावभंगी के आधार पर मानने या न मानने विषयक कोई निश्चित नियम नहीं है। अन्ततोगत्वा निर्णय इस बात से होता है कि समग्र रूप से परिस्थितियां क्या कहती हैं और न्यायालय के मस्तिष्क पर क्या छाप पड़ी।

इस संबंध में महाराज मनु भी उल्लेखनीय हैं। मनुस्मृति के अनुसार साक्षी की विश्वसनीयता का निर्णय उसकी भावभंगी देखकर भी किया जा सकता है, अर्थात् उसका स्वर, उसके चेहरे का उतार-चढ़ाव उसका संकेत, उसकी आकृति, नेत्र और क्रियायें[1]। असत्य-भाषण के सन्दर्भ में उसमें कहा गया है कि साक्षी अनेक कारणों से झूठ बोल सकता है, जैसे लोभ, मोह (भ्रान्ति), भय मित्रता, काम, क्रोध, अज्ञान, अथवा भोलापन[2]। अतः साक्ष्य का मूल्यांकन इन सब बातों को दृष्टि में रखकर किया जाना चाहिए।

भावभंगी के सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय कि उसके आधार पर न्यायाधीश अपने मन में कुछ धारणाएं बना सकता है, किन्तु उसका निर्णय में उल्लेख तभी किया जा सकता है जब कि साक्षी का बयान होते समय उसकी भावभंगी बयान

---

1. Leading question.

1. बाह्यैर्विभावयेल्लिंगैर्भावमन्तर्गतं नृणाम्।
स्वरेङ्गिताकारैश्चक्षुषा चेष्टितेन च ॥ 8 – 25 ॥

2. लोभान्मोहाद्भयान्मैत्रात्कामात्क्रोधात्तथैव च।
अज्ञानाद्बालभावाच्च साक्ष्यं वितथमुच्यते ॥ 8 – ॥ 8 ॥

में नोट कर ली गई हो, जैसे साक्षी रुक-रुक कर बोलता है, या प्रश्नों का सीधा उत्तर नहीं देता, या कि यह उत्तर उसने अमुक व्यक्ति के अमुक संकेत पर दिया। बेहतर तरीका यह होगा कि बयान ही प्रश्नोत्तर के रूप में इस प्रकार लिखा जाए जिससे कि साक्षी का तौर-तरीका प्रकट हो जाए और न्यायालय को अपनी ओर से कोई टिप्पणी न जोड़नी पड़े। जहां तक झूठ बोलने के विभिन्न कारण हैं, जैसा कि पहले बताया गया, वे प्रतिपरीक्षा में प्रकट कराने चाहिए।

विश्वसनीयता के सिद्धान्त :—किसी विषय में कितने साक्षी होने चाहिए इसका भी कोई नियम नहीं हो सकता। ऐसी भी घटना हो सकती है जिसका अभियोजक या अभियोक्री[1] के अलावा कोई साक्षी न हो। विश्वसनीयता के संबंध में मोटे तौर पर ये सिद्धांत बताए जा सकते हैं:—

1. जिस साक्षी की घटना के समय उपस्थिति स्वाभाविक हो वह अकस्मात् या अकारण आए साक्षी से अधिक विश्वसनीय होता है।
2. किसी पक्षकार के शत्रु, मित्र या सम्बन्धी की अपेक्षा स्वतन्त्र साक्षी अधिक विश्वसनीय होता है।
3. मित्र या सम्बन्धी होने से साक्षी अविश्वसनीय नहीं हो जाता; किन्तु उसके बयान की अधिक सूक्ष्मता से परीक्षा करनी चाहिये।
4. पक्षद्रोही[2] साक्षी के भी बयान का कुछ अंश विश्वसनीय हो सकता है।
5. जहां पार्टीबन्दी हो वहां निष्पक्ष साक्षी प्रायः नहीं मिलते, अतएव सभी को झूठा मानकर चलना उपयुक्त नहीं होगा, किन्तु उनके बयानों की परीक्षा अधिक सूक्ष्मता से करनी चाहिये।
6. दाण्डिक मामलों में वह साक्षी अधिक विश्वसनीय हो सकता है जिसका नाम प्रथम इत्तिला रिपोर्ट[3] में हो अथवा अन्वेषण के दौरान जिसका बयान शीघ्रतम लिया गया हो।
7. जिस साक्षी का बयान अधिक स्वाभाविक लगे वह अधिक विश्वसनीय होता है।[4]
8. परिस्थितियों द्वारा समर्थित साक्ष्य अधिक विश्वसनीय होता है।

---

1. Prosecutrix. 2. Hostile 3. F. I. R.

4. स्वभावेनैव यद्ब्रूयुस्तद् ग्राह्यं व्यावहारिकम्।
अतो यदन्यद्ब्रुवुर्धर्मार्थं तदर्थार्थकम्॥
मनु 8–78॥

—0—

स्वतन्त्र साक्ष्य

—न्यायमूर्ति श्री एस० एस० सवन

स्वतन्त्र या निष्पक्ष साक्ष्य कौन सा होता है ? जो साक्षी भय और पक्षपात के बिना सच बोलता है वही निष्पक्ष होता है; किन्तु यदि वह किसी पक्ष की ओर झुकता प्रतीत हो तो वह पक्षपाती कहलाता है। साक्षी का पक्षपात कई प्रकार से प्रकट हो सकता है : किसी पक्षकार से रिश्तेदारी या मित्रता होने के, या दूसरे पक्ष से वैमनस्य होने के, या मुकदमे के परिणाम में हितबद्ध होने के सबूत के द्वारा। ऐसे मामले में साक्षी की, यथास्थिति, परिवादी[1] या अभियुक्त के सम्बन्ध में स्थिति के विषय में उपधारणा[2] पक्षपात की होती है। दूसरी ओर, यदि रिश्तेदारी, मित्रता, वैमनस्य या आत्महित का कोई साक्ष्य न हो तो उपधारणा निष्पक्षता की होती है। किन्तु दोनों ही उपधारणायें ऐसी हैं जिनका खण्डन किया जा सकता है। यह हो सकता है कि साक्षी को अभियुक्त से रिश्तेदारी हो, फिर भी उसके बयान या भावभंगी से न्यायालय का यह विश्वास जमे कि वह सत्यवादी है। दूसरी ओर, निष्पक्ष दिखने वाला साक्षी ऐसा बयान दे सकता है जिससे ही उसकी अविश्वसनीयता प्रकट हो। वह ऐसी बातें कह सकता है जो प्रत्यक्षतः और स्पष्टतः झूठी हो या इतनी अनधिसंभाव्य[3] हो कि सामान्य बोध और अनुभव के प्रतिकूल लगें। ऐसे साक्षी का बयान पक्षपात का औपचारिक सबूत न होने के कारण ही मान्य नहीं हो जायेगा। न्यायालय को इसके सिवाय कोई विकल्प नहीं होगा कि यह उपधारणा करे कि बयान किसी ऐसे पक्षपात के कारण है जो प्रकट नहीं हुआ। एक उदाहरण सुसंगत होगा। हत्या के लिये विचारण में अपराध के लिये हेतु[4] न होने पर ध्यान दिया जायेगा। किन्तु यदि अपराध करने का अभियुक्त के विरुद्ध स्पष्ट सबूत हो तो वह बच नहीं पायेगा। विधि की दृष्टि में उसका कृत्य ही हेतु या विद्वेष के सबूत से अधिक मुखर[5] होगा और न्यायालय विद्वेष की उपधारणा कर लेगा। उसी प्रकार से स्वतन्त्र या निष्पक्ष दिखने वाले साक्षी का बयान उसके पक्षपात के औपचारिक सबूत की अपेक्षा अधिक ज्ञापक हो सकता है। यदि उसके साक्ष्य के बारे में यह प्रकट हो जाए कि वह असत्यवादी है तो न्यायालय यह निष्कर्ष निकाल लेगा कि कोई निष्पक्ष

---

1. Complainant 2. Presumption. 3. Improbable.
4. Motive 5. Eloquent.

साक्षी ऐसा बयान नहीं दे सकता था। "स्वतंत्र साक्षी" पद कोई मंत्र नहीं है जो निष्पक्षता का आवरण उठाने से न्यायालय को रोके। जब न्यायालय के समक्ष ऐसा बयान हो जो दृष्यतः असत्य, हास्यास्पद या अनधिसंभाव्य हो तो न्यायालय "स्वतंत्र" शब्द से यह भाव नहीं निकालेगा कि साक्षी को उसी प्रकार की उन्मुक्ति मिल गई है जिस प्रकार की राजनयिकों को मिलती है। स्वतंत्र साक्षी के साक्ष्य विषयक कोई ऐसा तकनीकी नियम नहीं है जो न्यायालय को इस बात के लिए विवश करे कि कोई बयान चाहे जितना झूठा, अनधिसंभाव्य या हास्यास्पद हो, उसे वह अवश्य मान ही ले। निष्पक्षता केवल एक ऐसा तथ्य होती है जिससे सत्यवादिता की उपधारणा होती है। किन्तु उस उपधारणा का खण्डन किया जा सकता है। साक्षी के बयान के सम्बन्ध में महत्व साक्षी का न होकर उसके बयान का होता है। बाइबिल के शब्दों में, तुम उन्हें उनकी गवाही से जानोगे।

[छिद्दी बनाम राज्य—

इं.ला रि (1961) 1 इलाहाबाद 609 (639–405) दे]

—: 0 :—

जो इस जन्म में उन्नति व परलोक में कल्याण करे
वही धर्म है।

– कणाद ॥

प्रवर्तनशील आदेश

(संकलित)

प्रवर्तनशील आदेश[1] किसी भी निर्णय या आदेश का वह अन्तिम अंग होता है जिसमें मामले में किया गया अन्तिम आदेश दिया रहता है तथा उसी को कार्यान्वित कराया जाता है। निर्णय चाहे सिविल हो या दाण्डिक, उसकी परिसमाप्ति प्रवर्तनशील आदेश में होती है। सिविल वाद या तो खारिज होता है या डिक्री होता है, अथवा अंशतः डिक्री और शेष के सम्बन्ध में खारिज होता है; या वादपत्र ही खारिज किया जा सकता है; या उचित न्यायालय में पेश किए जाने के लिए वापस किया जा सकता है।

दाण्डिक मामले में अभियुक्त या तो दोषमुक्त[2] या उन्मोचित[3] होता है; या दोषसिद्ध[4] होता है। संक्षिप्त विचारणों[5] को छोड़कर अन्य विचारणों में दोषसिद्धि के बाद अभियुक्त को दण्डादेश के विषय में सुना जाता है और तत्पश्चात् दण्डादेश सुनाया जाता है।

यह प्रवर्तनशील अंग ही अपने परिणामों के कारण निर्णय का सर्वाधिक महत्वपूर्ण भाग होता है। निस्सन्देह निष्कर्षों पर पहुंचाने वाले कारण (जो उसके पहले दिए गए होते हैं) कम महत्वपूर्ण नहीं होते, फिर प्रवर्तनशील भाग का अपना विशेष महत्व होता है क्योंकि निष्पादन[6] उसी भाग का कराया जाता है।

अतः न्यायिक अधिकारियों को इस प्रवर्तनशील भाग की शब्दावली के विषय में अधिक सतर्क रहना चाहिए। पहली स्पष्ट आवश्यकता यह है कि वह पहले लिखे गए निष्कर्षों के अनुसार होना चाहिए। यह हास्यास्पद होगा कि निर्णय की चर्चा वाले भाग से यह प्रकट हो कि अभियुक्त दोषी है, किन्तु प्रवर्तनशील भाग में उसे दोषमुक्त कर दिया जाए। इसी प्रकार से सिविल मामले में यदि सभी निष्कर्ष वादी के पक्ष में हों तो वादी की डिक्री होना अवश्यंभावी है। दूसरी ओर यदि सभी निष्कर्ष, या कम से कम कुछ ऐसे निष्कर्ष जिनके कारण वादी का दावा अमान्य हो जाता हो, प्रतिवादी के पक्ष में हों तो मामले

---

1. Operative order
2. Acpuit
3. Discharge
4. Convict.
5. Summary trials.
6. Execution.

इसके अतिरिक्त वह धारा भी देखी जानी चाहिए जो उस अपराध के लिए दण्ड की व्यवस्था करती है जिसका अभियुक्त दोषी ठहराया गया है। ऐसे मामले हुए हैं जिनमें ज्येष्ठ सेशन न्यायाधीशों तक ने इन बातों के सम्बन्ध में भूलें की हैं। उदाहरणार्थ यदि दोषसिद्धि धारा 302 भा.दं.सं. के अधीन की गई है तो दिया जाने वाला न्यूनतम दण्ड आजीवन कारावास का होगा। न्यायाधीश यह नहीं कह सकता है कि यद्यपि अभियुक्त धारा 302 भा.दं.स. के अधीन दोषी है फिर भी कुछ परिशमनकारी[1] परिस्थितियों के कारण वह सहानुभूति का पात्र है और उसे कम दण्ड, जैसे कि 5 वर्ष के कारावास का दण्ड, दिया जा रहा है भारतीय दण्ड संहिता में अनेक अन्य धाराएं हैं, उदाहरणार्थ धारा 397 और 398, जो यह विधान करती हैं कि न्यूनतम दण्ड क्या देना होगा। इसी प्रकार के विधान अनेक विशेष अधिनियमों में भी है। ऐसे मामलों में विधि द्वारा उपबन्धित न्यूनतम से कम दण्ड देने का आदेश नहीं किया जा सकता, सिवाय उस दशा के जब उस विधि में ही यह व्यवस्था हो कि विशेष कारण होने पर न्यायालय विहित न्यूनतम से कम दण्ड दे सकता है। उस दशा में विहित न्यूनतम से कम दण्ड उन विशेष कारणों के होने पर ही दिया जा सकता है, अन्यथा नहीं।

धारा 354, और 371 द.प्र.सं. के उपबन्ध भी प्रवर्तनशील आदेश करते समय ध्यान में रखने चाहिए। एक प्रसिद्ध मामले में एक ज्येष्ठ न्यायाधीश अभियुक्तों को मृत्यु दन्डादेश देते समय धारा 354 (5) के उपबन्धों के अनुसार यह निदेश देना भूल गए कि प्रत्येक दोष सिद्ध व्यक्ति को गर्दन से उस समय तक लटकाया जाएगा जब तक वह मर न जाए। जब आदेश अभियुक्त व्यक्तियों के पक्ष में हो तब भी उसके स्वरूप के सम्बन्ध में सतर्कता बरतनी चाहिए कि उसे उन्मोचित किया जा रहा है या दोषमुक्त।

इसी प्रकार से सिविल मामलों के लिए आदेश 20 सि.प्र.सं. का अध्ययन सावधानी से करना चाहिए, बल्कि उसे बार-बार पढ़ते रहना चाहिए। आदेश 20 के नियम 9, 10, 11, 12, 12-क, 13, 14, 15, 16, 17, 18 व 19 में इस बात के सविवरण उपबंध हैं कि किस प्रकार का अनुतोष देते समय प्रवर्तनशील आदेश किस रूप में किया जाएगा। उदाहरणार्थ, आदेश 20 के नियम 12 में कब्जा और अन्त:कालीन लाभ[2] की डिक्री पारित करने का ढंग दिया गया है। "अन्त:कालीन लाभ" पद से वह प्रतिकर अभिप्रेत होता है जो कब्जे के हकदार

1. Extenuting. 2. Mesne profits.

व्यक्ति को हकरहित व्यक्ति द्वारा अवैध कब्जे में बने रहने के कारण उस अवैध कब्जे की अवधि के लिए दिलाया जाता है। किन्तु यदि वाद केवल किसी विशिष्ट अवधि के किराए के लिए हो, न कि बेदखली के लिए, तो अन्तःकालीन लाभों अथवा वादकालीन और भावी किराए की डिक्री नहीं दिलाई जा सकती, न ऐसा व्यादेश[1] दिया जा सकता है जो प्रतिवादी को निदेश दे कि भविष्य में भी इसी प्रकार से किराया देता रहे।

यदि हिसाब का वाद डिक्री किया जा रहा हो तो विघटित[2] भागीदारी का हिसाब लिए जाने के मामले में नियम 15 का पालन सावधानी से करना चाहिए। इसी प्रकार से यदि वाद में प्रधान[3] और अभिकर्ता (एजेण्ट) के बीच हिसाब-किताब होना हो या वाद ऐसा हो जिसके लिए पूर्ववर्ती नियमों में विधान न हो तो नियम 16 देखा जाना चाहिए, और नियम 17 का भी, जो सामान्य तौर पर ऐसे सभी वादों को लागू होता है, सावधानी से पालन होना चाहिए।

यदि वाद बटवारे के लिए हो तो आदेश 20, नियम 18 तथा विभाजन अधिनियम के उपबंधों की ओर ध्यान देकर उनका पालन करना चाहिए। यदि प्रतिवादी ने मुजराई[4] का दावा या प्रतिदावा[5] किया हो और न्यायालय ने यह मान लिया हो तो आदेश 20 का नियम 19 सुसंगत होगा।

यदि डिक्री लघुवाद न्यायालय द्वारा की जा रही हो तो प्रान्तीय लघुवाद न्यायालय अधिनियम[6] की अनुसूची 2 दृष्टि में रखनी चाहिए। इस अनुसूची में अनेक अनुच्छेद हैं जिनमें उन वर्गों के वाद गिनाए गए है जो लघुवाद न्यायालय की अधिकारिता के बाहर हैं। अतः लघुवाद न्यायालय द्वारा इन अनुच्छेदों का उल्लंघन करके कोई डिक्री नहीं दी जा सकती।

प्रवर्तनशील आदेश में इस विषय में स्पष्ट निदेश होना चाहिए कि खर्चा वादी को, दिलाया गया या प्रतिवादी को, या अनेक प्रतिवादियों में से किस प्रतिवादी को दिलाया गया, अथवा प्रत्येक पक्षकार को अपनी सफलता के अनुपात में दूसरे पक्षकार से अनुपातिक खर्चा दिलाया गया। यदि ब्याज दिलाया जाए तो यह स्पष्ट होना चाहिए कि वादकालीन या भावी या दोनों प्रकार का ब्याज दिलाया गया या नहीं और यदि दिलाया गया तो किस दर से। यदि ब्याज वाणिज्य दर से दिलाया जाय तो इस विषय में निष्कर्ष लिखा होना चाहिए कि ब्याज की वाणिज्यिक दर क्या है। यदि ब्याज

1. Injunction. 2. Dissolved. 3. Principal. 4. Set-off.
5. Counter-claim. 6. Provincial Small Cause Courts Act.

का दावा किया गया हो तो उस बावत एक अलग विवाद्यक[1] बनाना चाहिए और जो कानूनी उपबंध[2] लागू होता हो उसका उल्लेख होना चाहिए ।

यदि मामला उत्तर प्रदेश शहरी भवन (किराये पर देने, किराये और बेदखली का विनियमन) अधिनियम, 1972 की धारा 21 के अधीन बेदखली का हो तो प्रवर्तनशील आदेश लिखते समय उस धारा के उपबन्ध ध्यान में रखने चाहिये । इसी प्रकार से मोटर दुर्घटना के मामले में मोटर यान अधिनियम की सुसंगत धाराओं के उपबन्धों का पालन किया जाना चाहिये ।

बहुधा होता यह है कि किसी धारा, संहिता या अधिनियम के उपबन्ध के बारे में हमारी स्मृति गलत या अस्पष्ट होती है, अर्थात् कभी गलत बात सही के तौर पर याद रहती है और कभी पूरी-पूरी बात याद नहीं रहती । अतः बुद्धिमानी इसी में है कि किसी भी मामले में प्रवर्तनशील आदेश देते समय किताब एक बार फिर देख ली जाये । सिविल मामलों में सिविल प्रक्रिया संहिता और दाण्डिक मामलों में दण्ड प्रक्रिया संहिता ऐसी पुस्तकें हैं जिन्हें प्रतिदिन कई बार देख लेना श्रेयस्कर है । केवल स्मृति या धारणा के आधार पर कार्य करने में त्रुटि हो जाने की सम्भावना रहती है ।

-:o:-

"विधि हमारे नैतिक जीवन की वाह्य परत की भांति होती है । उसका इतिहास जाति के नैतिक विकास का इतिहास होता है ।"

"विधि नैतिकता का अंग न भी हो, तब भी उससे परिसीमित होती है । किन्तु यह शक्ति-परिसीमा किसी विशिष्ट नीति-दर्शन की अनुसारिणी नहीं होती ।"

-न्यायमूर्ति श्री ओ० डब्लू० होम्स

---

1. Issue. 2. Provision

न्यायिक आदेशिकाओं से उत्पन्न सिविल और दाण्डिक दायित्व विषयक निर्णय

[संकलित]

कायम हुसैन बनाम प्रभुदयाल–1938 इलाहाबाद ला जर्नल 654:–यदि कोई व्यक्ति निर्णीत ऋणी[1] की बजाय किसी दूसरे व्यक्ति के माल की कुर्की करा लेता है तो जिस व्यक्ति का माल कुर्क किया गया वह कुर्की कराने वाले के विरुद्ध वाद करके नुकसानी[2] वसूल कर सकता है, भले ही यह साबित न हो कि उसकी कुर्की कराने में कोई विद्वेष था बल्कि युक्तियुक्त और अधिसंभाव्य हेतुक[3] का अभाव था।

दायित्व अवैध कार्य के स्वाभाविक और अनिवार्य परिणामों से होने वाली हानि के लिए ही होता है। इस प्रकार यदि गलत तौर पर कुर्क किया गया माल न्यायालय के कुर्क अमीन के पास से चोरी चला जाता है तो उसकी बाबत भी दायित्व होगा, देखिए–**विशम्भर नाथ बनाम गद्दर**–इ.ला रि. 33 इलाहाबाद 306 . 8 इ.ला ज. 92 तथा **गोमा बनाम गोकल दास**–इ.ला रि. 3 बाम्बे 74।

किन्तु यदि सदोष कुर्की के बाद माल उस न्यायालय के दूसरे आदेश के अधीन या किसी अन्य न्यायालय के आदेश के अधीन कुर्क करके बेच दिया जाता है और इस प्रकार वह स्वामी के हाथ से निकल जाता है तो उससे होने वाली हानि (प्रथम) सदोष कुर्की के परिणामस्वरूप नहीं मानी जाएगी क्योंकि वह हानि बिल्कुल स्वतन्त्र कार्य से हुई और सदोष कुर्की कराने वाला व्यक्ति उसके लिए देनदार न होगा।

धानन सिंह बनाम सम्राट्–आ.इ.रि.1935 इलाहाबाद 31 :– यदि सुपुर्ददार न्यायालय की अपेक्षा के अनुसार सम्पत्ति को पेश न करे तो वह धारा 406 भा.दं.सं. के अधीन अभियोजन[4] और दण्ड का पात्र होगा। इस निर्णय में **हरनाम सिंह बनाम सम्राट्** -आ.इ.रि. 1918 इलाहाबाद 406 से इस आधार

---

1. Judgement-debtor.
2. Damages.
3. Reasonable and probable cause.
4. Prosecution.

पर अन्तर किया गया कि इस मामले में अभियुक्त ने माल पेश करने से इंकार नहीं किया था; वह केवल तामील से बचा था और इस प्रकार वह धारा 172 भा. दं.सं के अधीन अवमान का दोषी था। इसमें **इन्दर सिंह बनाम सम्राट–आ.इं.रि. 1926 इलाहाबाद** 302 का अनुसरण किया गया।

तारक नाथ मुखर्जी बनाम कलेक्टर–(1870) 13 **सदरलेण्ड वी.रि.** 13:–एक मजिस्ट्रेट ने दण्ड प्रक्रिया संहिता के लोक न्यूसैन्स हटाने सम्बन्धी उपबन्धों के अधीन कार्य करना प्रकट करते हुए वादी का बन्ध नष्ट करवा दिया उसने यह कार्य किसी विधिक साक्ष्य के बिना और वादी द्वारा दिए गए स्पष्टीकरण पर भी विचार किए बिना किया। निर्णय यह किया गया कि उसे न्यायिक अधिकारी संरक्षण अधिनियम, 1850 के अधीन संरक्षण नहीं मिल सकता क्योंकि उसने युक्तियुक्त तौर पर सम्यक सतर्कता और सावधानी के साथ कार्य नहीं किया और ऐसी दशा में यह नहीं कहा जा सकता कि उसने सद्भावपूर्वक कार्य किया (भारतीय दण्ड संहिता में दी गई 'सद्भाव" की परिभाषा का आश्रय लिया गया)। जब कोई मजिस्ट्रेट विधि का स्पष्ट उल्लंघन करके कार्य करता है तो इस बात की विधिक उपधारणा[1] होती है कि उसने ऐसी उचित सतर्कता नहीं बरती और विधि का ऐसा युक्तियुक्त अर्थ नहीं किया जिसकी मजिस्ट्रेट से आशा की जाती है। किन्तु वादी केवल उस हानि की बाबत वसूली कर सकता है जो मजिस्ट्रेट के आदेश के निष्पादन का आवश्यक या स्वाभाविक और निकटस्थ[2] परिणाम है।

चुन्नू बनाम सम्राट – (1911) **क्रि. ला. ज. 374 : 11 इण्डियन केसेज** 142 (इलाहाबाद) :–"क" के विरुद्ध डिक्री के निष्पादन में उसकी जंगम सम्पत्ति कुर्क करके "ख" की अभिरक्षा में दे दी गयी। "ख" की मृत्यु हो जाने पर "क" ने सम्पत्ति अपने कब्जे में ले ली और वह उसे अपने उपयोग में ले आया। "क" भारतीय दण्ड संहिता की धारा 406 के अधीन न्याय-भंग[3] का दोषी न होकर धारा 379 के अधीन चोरी का दोषी है क्योंकि सम्पत्ति उसे कभी सौंपी नहीं गई थी; बल्कि वह न्यायालय के कब्जे में थी। चोरी का अपराध इस लिये बना कि उसने सम्पत्ति को न्यायालय की सम्पत्ति के बिना उसके कब्जे से निकाल लिया। यह नहीं माना जायेगा कि "ख" के मर जाने से सम्पत्ति न्यायालय के कब्जे में नहीं रह गई।

---

1. Presumption. 2. Proximate 3. Breach of trust.

रामपत राय बनाम राज्य-आ.इ.रि. 1960 इलाहाबाद 380 :-खड़ी फसल कुर्क करके सुपुर्ददार की अभिरक्षा में दे दी गई। सम्पत्ति के विनश्वर होने के कारण न्यायालय को चाहिए था। कि उसकी बिक्री के आदेश देता। किन्तु उसने ऐसा नहीं किया। 6 वर्ष बाद वह सुपुर्ददार से यह अपेक्षा नहीं कर सकता कि वह इस आधार पर लेखा प्रस्तुत करे कि उसने सम्पत्ति बेच दी होगी। वह न्यायालय के आदेश या अनुज्ञा के बिना सम्पत्ति नहीं बेच सकता था। क्योंकि दुर्विनियोग[1] या संपरिवर्तन[2] का कोई साक्ष्य नहीं था, अतः धारा 406 भा.दं.सं. के अधीन अपराध नहीं बना।

रामनाथन चेट्टी बनाम मीरा साइबा-1931 इ.लाज.541 (प्रि.कां.) : **आ.इ.रि 1931 प्रि.कां. 28** :- वर्तमान प्रतिवादी के आवेदन पर न्यायालय ने पूर्ववर्ती कार्यवाही में आदेश दिया कि फर्म 'क„के परिसरों की तलाशी ली जाए और यदि उसमें "ख„ की कोई सम्पत्ति मिले तो वह अभिगृहीत[3] कर ली जाए। न्यायालय के अधिकारी ने आवेदक (अब प्रतिवादी) के बताने पर "ख" की नहीं बल्कि स्वयं स्वामी "क" की सम्पत्ती अभिगृहीत कर ली। "क" ने अपने माल के सदोष अभिग्रहण के लिए नुकसानी का दावा किया। प्रिवी काउंसिल ने निर्णय किया कि "क" के लिए यह आवश्यक नहीं है कि साबित करें कि प्रतिवादी ने कार्य विद्वेषवश किया। प्रतिवादी सद्भावपूर्वक और विद्वेष के बिना कार्य करने पर भी देनदार होगा क्योंकि उसने ही "क" की सम्पत्ति का सदोष अभिग्रहण कराया।

"न्यायालय की मंजूरी के बिना किये गये कार्यों का उनसे विभेद किया जाना चाहिये जो न्यायालय की गलत तौर पर प्राप्त की गई मंजूरी से किये गये हों। यदि माल का अभिग्रहण उस रिट या वारण्ट के आधार पर किया जाता है जिसने अभिग्रहण का प्राधिकार दिया तो अभिग्रहण विधिपूर्ण होगा और उस अभिग्रहण की बाबत कोई कार्यवाही नहीं हो सकेगी, सिवाय उस दशा के जबकि शिकायत करने वाला व्यक्ति यह सिद्ध कर दे कि उस व्यक्ति द्वारा उपचार किया जाना चाहिये, जैसेकि विद्वेषपूर्ण अभियोजन[4] के मामले में।"

"किन्तु यदि रिट या वारण्ट ने अभिगृहीत माल के अभिग्रहण का प्राधिकार नहीं दिया था तो सदोष अभिग्रहण से हुई नुकसानी के लिये वाद विद्वेष साबित किये बिना किया जा सकेगा।"

---

1. Misappropriation. 2. Conversion. 3. Seize.
4. Maticious prosecution.

बजरंग लाल पोद्दार बनाम सीता राम-आ.इं.रि. 1949 कलकत्ता 457 इसमें प्रिवी काउन्सिल के उपर्युक्त निर्णय का अनुसरण करते हुये बताया गया कि इंग्लैण्ड की विधि भिन्न है। वहाँ दायित्व शेरिफ का होता है क्योंकि कुर्की वह स्वयं करता है, न कि भारत की भांति डिक्रीदार के बताने पर: भारत में शेरिफ को इंग्लैण्ड वाला विवेकाधिकार प्राप्त नहीं है। उसके शीर्ष टिप्पणी के अनुसार यह भी निर्णय किया गया :-

"न्यायालय की आदेशिका के विद्वेषपूर्ण दुरुपयोग के लिए नुकसानी के लिए वाद के, जिसमें विद्वेषपूर्ण अभियोजन या कोई अन्य "अनुयोग मामला"[1] आता है, वाद-हेतुक[2] की प्रकृति वही नहीं होती जो कि सम्पत्ति की सदोष कुर्की के लिए नुकसानी के लिए वाद में होती है। प्रथमोक्त के मामले में विद्वेष और/अथवा युक्तियुक्त और अधिसम्भाव्य हेतुक[3] का अभाव कार्यवाही का सार और आधार होता है। उत्तरोक्त के मामले में कार्यवाही का सार और आधार अतिचार[4] होता है। प्रथमोक्त प्रकार के मामले में जब न्यायालय की कार्यवाही या आदेशिका, जिसका दुरुपयोग किया गया, पूर्णतः शून्य अथवा अवैध हो तभी अतिचार का वाद हेतुक बनेगा, जिस दशा में भी विद्वेष की बात कहने या उसे साबित करने की आवश्यकता नहीं होगी। विधि न्यायालय की मंजूरी के बिना किए गए कार्यों तथा अनुचित रूप से प्राप्त की गई न्यायालय की मंजूरी से किए गए कार्यों में अन्तर करती है। यदि माल का अभिग्रहण ऐसी रिट या वारण्ट के अधीन किया जाए जो अभिग्रहण का अधिकार देता है तो अभिग्रहण विधिपूर्ण होगा और अभिग्रहण की बाबत कोई कार्यवाही तब तक नहीं की जा सकेगी जब तक कि शिकायत करने वाला व्यक्ति किसी ऐसी कार्यवाही द्वारा उपचार की उपलब्धता सिद्ध न कर दे जैसे कि विद्वेषपूर्ण अभियोजन[5] या न्यायालय की आदेशिका का विद्वेषपूर्ण दुरुपयोग। किन्तु यदि रिट या वारण्ट ने अभिग्रहीत माल के अभिग्रहण का प्राधिकार न दिया हो तो उस नुकसानी के लिए वाद प्रस्तुत किया जा सकेगा जो सदोष अभिग्रहण से हुआ और इसके लिए विद्वेष साबित न करना होगा।'

"जहां कि कुर्की का वारण्ट शेरिफ को अधिकार प्रदान करे कि निर्णीत-ऋणी की जंगम सम्पत्ति की कुर्की करे वहां वह ऐसे माल को कुर्क नहीं कर सकता जो निर्णीत-ऋणी का न होकर किसी अन्य का हो; और यदि वह ऐसा

---

1. Action case.
2. Causa of action.
3. Probable cause
2. Trespass.
5. Malicious prosecution.

करता है तो माल का स्वामी सदोष कुर्की के लिए डिक्रीदार पर दावा कर सकता है और उसे यह कहने या साबित करने की आवश्यकता नहीं है कि कार्य विद्वेष-पूर्वक या युक्तियुक्त और अधिसंभाव्य हेतुक के बिना किया गया। वस्तुतः यदि माल का अभिग्रहण सद्भावपूर्वक की गई गलती के कारण भी हो तो भी सदोष कुर्की की बाबत नुकसानी के लिए कार्यवाही में वह प्रतिरक्षा नहीं मानी जाएगी। इतना पर्याप्त होगा कि माल विधिपूर्ण औचित्य के बिना, अर्थात सदोष, ले जाया गया। और कुछ साबित करने की आवश्यकता न होगी। कुर्की का आदेश न्यायालय का कार्य होता है। किन्तु वह सदोष कार्य और उससे होने वाले नुकसान का हेतुक नहीं होता क्योंकि उसमें निदेश केवल निर्णीत-ऋणी के माल की कुर्की का होता है, न कि किसी अन्य के माल की कुर्की का। सदोष कार्य या नुकसान किसी पक्षकार के (जैसे कि भारत में डिक्रीदार या उसके अभिकर्ता के) कार्य से होता है, अर्थात आदेश के दोषपूर्ण या आदिष्ट से अधिक निष्पादन से।"

"यह साबित करने का भार वादी पर होता है, न कि निर्णीत-ऋणी पर, कि कुर्क की गई सम्पत्ति वादी की थी।"

"जब निष्पादन के ऐसे मामले में, जो दोषपूर्ण कुर्की का न हो किसी बाहरी व्यक्ति द्वारा कोई धन अदा किया जाए तो वह स्वैच्छिक अदायगी मानी जानी चाहिए, न कि प्रपीडन[1] के अधीन। अतः वह वापस नहीं ली जा सकती–40 कलकत्ता 598 (प्रिवी काउन्सिल) का अनुसरण किया गया।"

---

1. Coercion.

धैर्य और गम्भीरता के साथ सुनवाई करना न्याय का आवश्यक अंग है।

—वेंकट

सिविल प्रक्रिया संहिता के केन्द्रीय और राज्य संशोधन

—न्यायमूर्ति श्री कैलाश नाथ ओझल

सिविल प्रक्रिया संहिता में 1976 में एक केन्द्रीय अधिनियम द्वारा व्यापक संशोधन किये गये। एक उत्तर प्रदेश अधिनियम ने भी उसमें संशोधन किये गये थे। उत्तर प्रदेश संशोधन 1 जनवरी, 1977 से लागू हुआ, जबकि केन्द्रीय संशोधन 1 फरवरी, 1977 से लागू किया गया। प्रश्न उठता है कि दोनों में से कौन अभिभावी[1] होगा।

संविधान के अनुच्छेद 254 (2) में यह उपबन्ध[2] है कि यदि कोई विधि समवर्ती सूची[3] के विषय पर हो और राज्य विधान-मण्डल ने उस विषय में संसद् द्वारा पारित अधिनियम के बाद अधिनियम पारित किया हो तो राज्य अधिनियम ही, उस पर राष्ट्रपति की अनुमति हो जाने की दशा में, अभिभावी होगा। 1976 के उक्त उत्तर प्रदेश संशोधन अधिनियम पर राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त हुई थी।

यद्यपि केन्द्रीय अधिनियम उत्तर प्रदेश अधिनियम की अपेक्षा बाद में लागू किया गया था, किन्तु उत्तर प्रदेश अधिनियम पर राष्ट्रपति की अनुमति केन्द्रीय अधिनियम पर अनुमति होने के बाद की तारीख को हुई थी। अनुच्छेद 254 (2) में निर्देश अधिनियम पारित होने की तारीख का है, न कि उसके लागू होने की तारीख का। जैसा कि **टी० के० मुसलयार बनाम वेंकटचलम**—आ. इं. रि. 1956 सु को० 246(258) में उच्चतम न्यायालय ने निर्णय किया, अधिनियम तभी बन जाता है जब उस पर राष्ट्रपति की अनुमति हो जाती है, भले ही सरकार उसे लागू किसी बाद की तारीख को करे। इस विधिक स्थिति के कारण उत्तर प्रदेश अधिनियम केन्द्रीय अधिनियम की अपेक्षा अधिक मान्य होगा क्योंकि उत्तर प्रदेश अधिनियम बाद में पारित हुआ, यद्यपि वह लागू केन्द्रीय अधिनियम के लागू होने के पहले की तारीख को कर दिया गया।

---

1. Over-riding 2. Provision. 3. Concurrent list

दुर्भाग्यवश कुछ टीकाकारों ने गलत तौर पर मान लिया है कि उत्तर प्रदेश संशोधन केन्द्रीय अधिनियम द्वारा अतिष्ठित[1] हो गया। एक नवीनतम टीका में कहा गया है कि केन्द्रीय अधिनियम की धारा 97 ने उत्तर प्रदेश संशोधन निरसित[2] कर दिए, अतः इस टीका में उत्तर प्रदेश संशोधन नहीं छापे गये हैं। दूसरी नवीनतम टीका में सिविल प्रक्रिया संहिता, आदेश 15 नियम 5 का 1972 में पारित उत्तर प्रदेश संशोधन तो दिया गया है, किन्तु 1976 का संशोधन नहीं दिया गया, जिसने 1972 के संशोधन को अतिष्ठित कर दिया। अनेक टीकाकारों और प्रकाशकों की भ्रान्ति को देखते हुए उचित यह है कि इन टीकाओं का आँख मींचकर विश्वास न किया जाए, भले ही वे नवीनतम संस्करण प्रकट हों। किन्हीं टीकाओं को आधार बनाने के पूर्व आपको यह सावधानी बरतनी चाहिए कि यह देख लें कि उनमें कहा गई बातें कहाँ तक सही हैं। ऐसा भी होता है कि पुस्तक मूलतः एक प्रकयान लेखक द्वारा लिखी गयी हो, किन्तु उसका नवीनतम संस्करण विश्वसनीय न हो, क्योंकि प्रकाशक द्वारा चुना गया पुनरीक्षणकर्ता ही विश्वसनीय न हो।

चाहे टीका हो और चाहे नजीरों के शीर्ष टिप्पण[3], न्यायिक अधिकारी को एक स्वस्थ शंकालुता की प्रवृत्ति विकसित करनी चाहिए। नवीनतम संशोधनों की जानकारी रखना आवश्यक है। 'ऑल इण्डिया रिपोर्टर" के संसदीय अधिनियम वाले अनुभाग में संसद के नवीनतम अधिनियम दिए रहते हैं। उनके लागू किए जाने की तारीखें भी उस पत्रिका में छपती हैं। "लखनऊ लॉ टाइम्स" और 'करेण्ट इण्डियन स्टेट्यूट्स" केन्द्र तथा राज्य के नवीनतम अधिनियम तथा अधिनियमों के अधीन बनाए गए नियम प्रकाशित करते हैं। न्यायिक अधिकारियों के लिए अच्छा होगा कि विधि में समय-समय पर होने वाले संशोधनों से अपने को अवगत रखें क्योंकि बहुधा ऐसा होता है कि अधिवक्ताओं और न्यायाधीशों को तथाकथित नवीनतम टीकाओं में बताई कानूनी स्थिति से सही मार्ग-दर्शन होने की बजाय भ्रान्ति हो जाती है।

---

1. Superseded. 2. Repeal. 3. Head notes

केवलं शास्त्रमाश्रित्य
न कर्तव्यो विनिर्णयः ।
युक्तिहीने विचारे तु
धर्महानिः प्रजायते ॥

– बृहस्पति ॥

विधि को शब्दावली मात्र को आधार बना कर निर्णय नहीं करना चाहिए । तर्क-शक्ति का भी प्रयोग होना चाहिए । अन्यथा अन्याय हो जाता है ।

आज भी निर्वचन का सिद्धान्त यही है कि विधि के किसी भी वाक्य का अर्थ करने में केवल उसके शब्दों पर न जाकर सम्पूर्ण विधि और उसके उद्देश्य की ओर ध्यान देकर युक्ति-सम्मत अर्थ निकाला जाना चाहिए ।

– 0 –

असम्बद्ध केवल धार्मिक प्रकृति के व राजनीतिक विवाद इसके अन्तर्गत नहीं आते।

यह सिविल अधिकारिता सिविल प्रक्रिया संहिता के विभिन्न उपबंधों के अधीन रहते हुए है। संकेत विभिन्न निर्बंधनकारी (पाबंदी लगाने वाले) उपबंधों की ओर है, जैसे कि धारा 10, 11, 12, 66, 80, 83, 84, 85, 91, 92, आदि। दूसरे शब्दों में, न्यायालय की सिविल प्रकृति का वाद ग्रहण करने की शक्ति इन उपबंधों द्वारा नियंत्रित है और उनके अधीन रहते हुए ही है। यह धारा 15 से 25 तक के उपबंधों के अधीन रहते हुए भी है जो वाद करने के स्थान के विषय में है, तथा धारा 26 के भी अधीन रहते हुए है जो वाद करने के ढंग के विषय में है।

धारा 9 में वर्णित अपवाद[1] दो प्रकार के है-एक तो यह कि जिन वादों का संज्ञान अभिव्यक्त रूप से वर्जित है वे ग्रहण नहीं किए जायेंगे। और दूसरे यह कि जिन वादों का संज्ञान विवक्षित रूप से वर्जित है वे भी नहीं हो सकेंगे।

सिविल न्यायालय की अधिकारिता के अभिव्यक्त वर्जन का एक सामान्य उदाहरण **उत्तर प्रदेश शहरी भवन (किराये पर देने, किराए और बेदखली का विनियमन) अधिनियम, 1972** (उत्तर प्रदेश अधिनियम सं० 13 सन् 1972) की धारा 36 और 37 का है। ये धाराएं इस प्रकार है :-

"36 - **सद्भावना[2] से किये गए कार्य के लिए संरक्षण** - किसी व्यक्ति के विरुद्ध ऐसे कार्य के लिए, जो इस अधिनियम या तदधीन बनाए गए किसी नियम अथवा दिए गए आदेश के उपबन्धों के अनुसरण में, सद्भावना से किया गया हो, अथवा उसका किया जाना तात्पर्यित या अभिप्रेत हो, कोई वाद, अभियोग या अन्य विधिक कार्यवाही नहीं की जा सकेगी।"

"37 - **अन्तिमता तथा उपधारणा**[3]-(1) इस अधिनियम द्वारा प्रदत्त या इसके अधीन किसी शक्ति का प्रयोग करके दिए गए किसी आदेश पर किसी न्यायालय में कोई आपत्ति नहीं की जाएगी।

(2) यदि किसी आदेश का इस अधिनियम द्वारा प्रदत्त या इसके अधीन किसी शक्ति के प्रयोग में किसी प्राधिकारी द्वारा दिया जाना और हस्ताक्षरित होना तात्पर्यित[4] हो तो न्यायालय, जब तक कि इसके प्रतिकूल सिद्ध न कर दिया जाय, यह उपधारणा करेगा कि ऐसा आदेश उक्त प्राधिकारी द्वारा इस प्रकार दिया गया था।"

---

1. Exceptions. ...ion 4. Purported

इन्टरमीडिएट शिक्षा अधिनियम की धारा 21 व 22 के उपबन्ध भी उत्तर प्रदेश अधिनियम सं 13 सन् 1972 की धारा 36 और 37 (1) के ही समान हैं।

सरकार और लोक निगमों तथा सरकारी कम्पनियों को देय बहुत सी राशियां राजस्व की बकाया की भांति वसूल की जा सकती है, जैसा कि **उत्तर प्रदेश लोक धन (देयों की वसूली) अधिनियम, 1972** में दिया गया है। ये वसूलियां सम्पत्ति शहरी क्षेत्र में होने की दशा में उत्तर प्रदेश भू-राजस्व अधिनियम, 1901 के उपबन्धों से शासित होती हैं और यदि सम्पत्ति ग्रामीण क्षेत्र में स्थित हो तो 1950 ई० के जमींदार-विनाश और भूमि-व्यवस्था अधिनियम से शासित होती है। इन अधिनियमों की क्रमशः धारा 183 व 287 क में यह उपबन्ध है कि यदि कथित अदायगी में चूक करने वाला व्यक्ति अपने दायित्व से इन्कार करे तो उसको चाहिए कि पहले वसूल की जाने वाली राशि जमा कर दे और तत्पश्चात् ही वह वाद कर सकता है, अन्यथा नहीं।

इसी तरह से **उत्तर प्रदेश सार्वजनिक भूगृहादि (अप्राधिकृत अध्यासियों की बेदखली) अधिनियम, 1972** की धारा 16 उस अधिनियम के अधीन कार्यवाही के सम्बन्ध में वाद ग्रहण करने की न्यायालय की अधिकारिता का वर्जन करती है।

यहां यह उल्लेखनीय है कि ऐसा कोई भी उपबन्ध जो सिविल न्यायालय की अधिकारिता का वर्जन करता है, संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन कार्यवाही को लागू नहीं होता और इन सबके होते हुए भी उच्च न्यायालय इन विभिन्न अधिनियमों के अधीन कार्यवाहियों को अनेक आधारों पर प्रश्नगत करने वाली रिट अर्जियां ग्रहण कर सकता है। मूल अधिकार का प्रश्न होने पर उच्चतम न्यायालय में भी संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन रिट अर्जी लगाई जा सकती है। किन्तु वाद नहीं हो सकता। जैसा कि उच्चतम न्यायालय ने **रामजी दास बनाम त्रिलोक चन्द**-अ.इं.रि. 1971 मु.को 2361 में कहा, यह मान लेने पर भी कि किराया नियंत्रण और बेदखली अधिकारी ने अपनी अधिकारिता के प्रयोग में भूल की, उस भूल का सुधार (सम्कालीन) 1947 के किराया नियंत्रण अधिनियम की धारा 7-च के अधीन पुनरीक्षण में या रिट अर्जी में किया जा सकता था, किन्तु उस आदेश को किसी वाद द्वारा प्रश्नगत नहीं किया जा सकता था। यह भी बताया गया कि गलत निष्कर्ष पर पहुंचने में किराया नियंत्रण और

बेदखली अधिकारी नैसर्गिक न्याय[2] के सिद्धान्त के विपरीत कार्य नहीं करता। साथ ही **धुलाबाई बनाम मध्य प्रदेश राज्य**-आ.इं.रि. 1969 सु.को. 78 में बताया गया है कि वाद अधिनियम द्वारा वर्जित होने पर भी सिविल न्याय लय की कुछ बातों के विषय में अधिकारिता बनी रहती है। उदाहरणार्थ, सिविल न्यायालय को इस बात की अधिकारिता होती है कि उन मामलों को परीक्षा करे जिनमें कहा जाए कि वह अधिनियम शून्य है, या कि उस अधिनियम के उपबन्धों का पालन नहीं किया गया है, या कि विवाद के निर्णय के लिए उसके अधीन बनाए गए अधिकरण ने न्यायिक प्रक्रिया के मूलभूत सिद्धान्तों के अनुसार कार्य नहीं किया। इस प्रकार सिविल न्यायालय की अधिकारिता अभिव्यक्त रूप से वर्जन होने पर भी सम्बन्धित प्राधिकारी के कार्य को उस दशा में प्रश्नगत किया जा सकता है जब वह अधिकारिता के बाहर जाकर किया गया हो या असद्भाव-पूर्वक किया गया हो। साथ ही साथ यह भी याद रखना चाहिए कि अधिकारिता न होने या उसका अतिलंघन करने की अथवा असद्भाव की बात कहना तो आसान होता है, किन्तु साबित करना कठिन होता है।

इसी प्रकार **उत्तर प्रदेश लोक सेवा (अधिकरण) अधिनियम, 1976** की धारा 6(1) में निम्नलिखित उपबन्ध है--

"6. (1) किसी व्यक्ति के, जिसके अन्तर्गत धारा 1 की उपधारा (4) के खण्ड (क) से (ङ) तक में विनिर्दिष्ट वर्गों के व्यक्ति भी है अनुरोध पर जो लोक सेवक है या रह चुका है, सेवायोजन से सम्बन्धित किसी बात के सम्बन्ध में किसी अनुरोध के लिए कोई वाद सरकार या किसी स्थानीय प्राधिकारी[1] या किसी सांविधिक निगम या कम्पनी के विरुद्ध ग्राह्य नहीं होगा :

इस उपबन्ध का पूरा भाव समझने के लिए हमें अधिनियम की धारा 2(ख) में दी गई "लोक सेवक" की परिभाषा तथा धारा 1 की उपधारा (4) के खण्ड (क) से (ङ) तक के उपबन्ध देखने होंगे। "लोक सेवक" पद के अन्तर्गत केवल सरकारी सेवक ही नहीं आते, अपितु स्थानीय प्राधिकारियों, सरकारी कम्पनियों तथा राज्य सरकार द्वारा नियंत्रित निगमों के कर्मचारी भी आते हैं। विश्वविद्यालय के कर्मचारी इस अधिनियम के अन्तर्गत नहीं आते। किन्तु वे **उत्तर प्रदेश राज्य विश्वविद्यालय अधिनियम, 1973** के अन्तर्गत आते है, जिसकी धारा 69 में सिविल न्यायालय की अधिकारिता के वर्जन का ऐसा ही

1. Local authorities 2. Natural Justice.

उपबन्ध है। इस अधिनियम की धारा 68 कुलाधिपति को इस बात की भी शक्ति प्रदान करती है कि वह विश्वविद्यालय के कर्मचारियों के ऐसे विवादों का निर्णय करें। धारा 68-क सम्बद्ध महाविद्यालयों के शिक्षकों के सम्बन्ध में वैसी ही शक्ति कुलपति को प्रदान करती है।

जहां तक केन्द्रीय सरकार के कर्मचारियों का सम्बन्ध है, न्यायालयों की अधिकारिता **प्रशासनिक अधिकरण अधिनियम, 1985** की धारा 28 द्वारा वर्जित कर दी गयी है। केन्द्रीय सरकार द्वारा नियंत्रित निगमों और सोसाइटियों के कर्मचारी भी उस तारीख से उसके अन्तर्गत आ जायेंगे जो उस अधिनियम की धारा 14 (3) के अधीन इस निमित्त अधिसूचित की जाये।

न्यूनाधिक मात्रा में इसी तरह के उपबन्ध अधिकांश विशेष या स्थानीय अधिनियमों में पाये जाते हैं। अतः सिविल न्यायालय के पीठासीन अधिकारियों को इस विषय में सतर्क व सावधान रहना चाहिये कि किसी भी अनुतोष के लिए ऐसे वाद ग्रहण न करें जिनके विषय में सिविल न्यायालय की अधिकारिता स्पष्ट शब्दों में वर्जित है।

जहां तक निजी क्षेत्र के कर्मचारियों का सम्बन्ध है, संविदा-भंग[1] के लिए नुकसानी[2] का वाद तो सिविल में चल सकता है, किन्तु सेवा संविदा का विनिर्दिष्ट पालन[3] नहीं कराया जा सकता। विनिर्दिष्ट अनुतोष अधिनियम की धारा 14 (1) (घ) में इस आशय का स्पष्ट उपबन्ध है। इस प्रकार यदि निजी कर्मचारी की सेवाएं संविदा का उल्लंघन करके समाप्त की जाती हैं तो पदच्युत कर्मचारी का स्वामी और सेवक संबंधी सामान्य विधि के अन्तर्गत आदेश या विनिर्दिष्ट पालन के लिए वाद या इस घोषणा के लिए वाद कि वादी सेवा में बना हुआ है, भ्रांतिपूर्ण होगा। बहुधा बहस की जाती है कि पदच्युति नैसर्गिक न्याय के सिद्धांतों का उल्लंघन करके की गई। किन्तु स्वामी और निजी सेवक सम्बन्धी विधि के अधीन यह है कि पदच्युति को शून्य करार देने के लिए कोई आधार नहीं है। नैसर्गिक न्याय के सिद्धांत लोक सेवकों के विषय में ही (जिनके अन्तर्गत सरकार द्वारा नियंत्रित निगमों के सेवक भी आते हैं) लागू होते हैं। जहां तक निजी कर्मचारियों का सम्बन्ध है, यदि कर्मचारी के विरुद्ध आरोपों की कोई जांच नहीं भी की गई तो संविदा-भंग के आधार पर नुकसानी का वाद कर्मचारी द्वारा किए जाने पर प्रतिवादी नियोजक[4] साक्ष्य देकर न्यायालय के

1. Breabh of contract,
2. Damages.
3. Specific perfcrmance.
4. Employer

समक्ष यह साबित कर सकता है कि कर्मचारी वस्तुतः ऐसे अवचार[1] का दोषी था जिसके कारण नियोजक उसे पदच्युत कर सकता था। नियोजक की यह बात साबित न होने पर भी कर्मचारी सामान्यतः केवल नुकसानी मांग सकता है, जो अन्यथा सेवा के अभाव में कुछ मास के वेतन के बराबर होगी। किन्तु वह यह घोषणा नहीं मांग सकता कि यह माना जाए कि वादी कभी पदच्युत नहीं किया गया और इस प्रकार उसे बराबर सेवा में बना रहा माना जाये।

निस्सन्देह औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 नामक केन्द्रीय अधिनियम तथा संयुक्त प्रान्तीय औद्योगिक झगड़ों का ऐक्ट सन् 1947 ई० जैसी श्रम विधियों में ऐसे उपबन्ध हैं जो श्रम न्यायालय को इस बात की शक्ति प्रदान करते हैं कि कर्मकार की पदच्युति दोषपूर्ण घोषित करके मामले को परिस्थितियों के अनुसार चाहे तो पुनः पदस्थापन[2] तथा पिछली मजदूरी के अनुतोष दे या चाहे प्रतिकर दिलाए। किन्तु सिविल न्यायालय उस शक्ति का प्रयोग नहीं कर सकता। कारण यह है कि कर्मचारी का यह अधिकार कि नियोजक उसे पदच्युत करने के नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्तों का पालन करे तथा वैसा न किए जाने पर कर्मचारी को पुनः पदस्थापित किया जाए, परम्परागत विधि (कामन लॉ) के अधीन अधिकार नहीं है, वह विशेष विधि यथा संविधान अथवा श्रम विधि द्वारा—जैसे कि केन्द्र या राज्य के औद्योगिक विवाद विषयक अधिनियम में, साथ ही, उस अधिकार को कार्यान्वित कराने के लिए विशेष प्रक्रिया का विधान भी है। ऐसे मामले में सरकार द्वारा श्रम न्यायालय को निर्देश भेजा जाना होता है और व्यथित कर्मकार या उसके संघ को यह चाहिए कि राज्य सरकार से उस निमित्त आवेदन करे, किन्तु वह सिविल न्यायालय में उस अधिकार के प्रवर्तन के लिए वाद नहीं ला सकता।

जहां तक राज्य विधान मंडल या संसद के निर्वाचन विषयक विवादों का सम्बन्ध है, संविधान का अनुच्छेद 329 यह व्यवस्था करता है कि न्यायालय उन पर विचार नहीं करेंगे। ऐसे विवादों का निर्णय निर्वाचन अर्जी दिये जाने पर केवल उच्च न्यायालय द्वारा किया जा सकता है। निर्वाचन की प्रक्रिया या उसके परिणाम में किसी चरण पर भी साधारण सिविल न्यायालय द्वारा हस्तक्षेप के लिए कोई अवसर नहीं है। इसी प्रकार के उपबन्ध उत्तर प्रदेश नगरपालिका अधिनियम, उत्तर प्रदेश पंचायत राज अधिनियम, उत्तर प्रदेश क्षेत्र समिति और

1. Misconduct. 2. Reinstatement.

जिला परिषद अधिनियम तथा उत्तर प्रदेश नगर महा पालिका अधिनियम से सम्बन्धित स्थानीय निकायों के निर्वाचनों के सम्बन्ध में है तथा उत्तर प्रदेश सहकारी समिति अधिनियम व उसके अधीन बनी नियमावली में सहकारी समितियों के निर्वाचन के सम्बन्ध में है।

न्यायालय की अधिकारिता के विषय में उच्चतम न्यायालय द्वारा अनेक मामलों में बताई गई विधि न्यायमूर्ति विलिस द्वारा एक प्रसिद्ध अंग्रेजी मुकदमे में बताए गए वर्गीकरण पर आधारित है। उसके द्वारा बताया गया वर्गीकरण इस प्रकार है :

ऐसे मामले तीन प्रकार के होते हैं जिनमें कि कानून द्वारा दायित्व[1] सिद्ध किया जा सकता है :

प्रथम वर्ग उन मामलों का होता है जिनमें कि दायित्व परम्परागत विधि (कामन लॉ) के अधीन होता है, और जिसे विधान मण्डल द्वारा बनाया गया कानून[2] (अधिनियमित विधि) केवल विशेष प्रकार के उपचार के साथ पुनः अधिनियमित[3] कर देता है। ऐसे मामलों में यदि वह कानून अनिवार्य रूप से परम्परागत विधि का वर्जन न करे तो वादी को यह चुनने का अधिकार होता है कि चाहे तो वह उस कानून के अधीन तदर्थ गठित प्राधिकरण के समक्ष कार्यवाही करे और चाहे परम्परागत विधि के अधीन सिविल न्यायालय में वाद करे।

दूसरे वर्ग में वे मामले आते हैं जिनमें दायित्व का सृजन किसी अधिनियमित कानून द्वारा होता है, किन्तु उस कानून में उसके लिए किसी विशेष उपचार की व्यवस्था नहीं होती। ऐसे मामलों में पक्षकार ऐसे दायित्वों को कार्यान्वित कराने[4] के लिए परम्परागत विधि के अनुसार सिविल न्यायालय में वाद कर सकता है।

तीसरा वर्ग उन मामलों का होता है जिनमें अधिनियमित कानून ऐसे नए दायित्व का सृजन करता है जो परम्परागत विधि में नहीं आता और साथ ही, उसे कार्यान्वित कराने के लिए विशिष्ट उपचार की व्यवस्था भी करता है। ऐसे मामलों में बराबर यही निर्णय किया गया है कि पक्षकार केवल वही उपचार पा

1. Liability. 2. Statute. 3. Enact. 4. Enforce

सकता है जो कानून में दिया गया है, देखिए–**प्रीमियर आटोमोबाइल्स बनाम के० एस० वडके** (1976) 1 सु०को०के० 496 : आ०इं०रि० 1985 सु०को० 2238।

कराधान, निर्वाचन और औद्योगिक विवाद विषयक मामले उपर्युक्त वर्गीकरण के तीसरे वर्ग में आते हैं। अतः ऐसे मामलों से सिविल वाद कानून द्वारा स्पष्टतः वर्जित न होने पर भी वह सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 9 के अर्थों में विवक्षित रूप से वर्जित माना जाना चाहिए।

न्यायालय की अन्तर्निहित शक्तियां

-[संकलित]

सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 की धारा 151 में यह दिया गया है कि इस संहिता की किसी भी बात के बारे में यह नहीं समझा जायगा कि वह ऐसे आदेश देने की न्यायालय की अन्तर्निहित शक्ति[1] को परिसीमित या प्रभावित करती है जो न्याय के उद्देश्यों के लिये या न्यायालय की आदेशिका के दुरुपयोग[2] को रोकने के लिये आवश्यक हों।

अन्तर्निहित शक्तियों के प्रयोग के लिये अधिकतम औचित्य तब होता है जबकि न्यायालय या उसके कार्यालय द्वारा कोई गलती की गई हो और उस गलती के कारण ऐसे पक्षकार को हानि हुई हो जिसका अपना कोई दोष न रहा हो। ऐसे मामलों में भूल-सुधार करना न्यायालय की अन्तर्निहित शक्ति में ही नहीं, अपितु उसका कर्तव्य भी होता है। लैटिन भाषा में एक सूत्र[3] है कि न्यायालय के कार्य से किसी को क्षति नहीं होनी चाहिये। **जी. पीटर्सन बनाम ओ. बी. फोर्ब्स** – आ. इं. रि. 1963 सु. को. 692 (पैरा 21) में उच्चतम न्यायालय ने कहा है कि सभी न्यायालयों का यह परम कर्तव्य है कि इस विषय में सतर्क रहें कि न्यायालय के कार्य से किसी वादकारी को क्षति न हो।

उदाहरणार्थ, यदि कोई मुकदमा ऐसी तारीख को ले लिया जाये जिसकी एक पक्षकार को सूचना न हो (अर्थात् जहां नोटिस भेजा जाना चाहिए था, किन्तु भेजा नहीं गया) तो उस तारीख को उस पक्षकार के विरुद्ध किया गया आदेश वापस लिया जा सकता है।

जब कोई आदेश बोल दिया जाय, किन्तु उस पर हस्ताक्षर होने के पहले गलती पकड़ में आ जाये तो उसको सही किया जा सकता है, देखिये–**देवी प्रसाद बनाम खिलावन**–आ. इं. रि. 1957 इलाहाबाद 1967।

आदेश पर हस्ताक्षर होने के बाद भी यदि न्यायालय को यह ध्यान दिलाया जाये कि आदेश मृत व्यक्ति के विरुद्ध किया गया है और उस मृत व्यक्ति के विधिक प्रतिनिधियों को पक्षकार नहीं बनाया गया था तो भी ऐसा आदेश दूसरे पक्षकार को नोटिस देने के बाद वापस लिया जा सकता है।

---

1. Inherent power. 2. Abuse of the process of the court.
3. Actus curiae curiae neminem gravabit.

इसके अतिरिक्त, यदि किसी न्यायालय ने किसी भ्रान्तिवश अपने आदेश में यह लिख दिया हो कि अमुक पक्षकार या उसके अधिवक्ता ने तथ्य या विधि की अमुक बात मान ली है और बाद में न्यायालय यह स्वीकार करे कि वास्तव में वह बात मानी नहीं गई थी तो न्यायालय उस आदेश को वापस ले सकता है या उसमें परिवर्तन कर सकता है।

यदि न्यायालय का ध्यान इस बात की ओर आकर्षित किया जाये कि किसी अनाधिकृत व्यक्ति ने किसी पक्षकार की ओर से मुकदमा वापस ले लिया या उसमें समझौता कर लिया या उसमें कोई बात गलत तौर पर मान ली तो न्यायालय की दृष्टि में सही तथ्य आने पर पूर्व आदेश वापस लिया जा सकता है।

इसी प्रकार से कपट के मामले में भी पूर्व आदेश वापस लिया जा सकता है।

किन्तु जब न्यायालय की अन्तर्निहित शक्तियों के प्रयोग का अनुरोध कोई ऐसा कार्य करने के लिये किया जाये जिसके विषय में सिविल प्रक्रिया संहिता में विशिष्ट उपबन्ध हों तो न्यायालय को उस विशिष्ट उपबन्ध के अनुसार ही कार्य करना होता है और उसे यह देखना होता है कि उस शक्ति का प्रयोग जिन शर्तों के पूरे होने पर किया जाना चाहिये वे पूरी हो जायें। अन्तर्निहित शक्तियों का प्रयोग उन पूर्व शर्तों की उपेक्षा करने के लिये नहीं हो सकता।

जैसा कि लार्ड डेनिंग ने कहा, न्यायालय अपनी प्रक्रिया के स्वयं मालिक होते हैं और जो बात सही हो वे उसे कर सकते हैं, भले ही उसके लिए नियमों में विधान न हो। किन्तु यह सिद्धान्त प्रक्रिया सम्बन्धी बातों के सम्बन्ध में ही लागू है, न कि पक्षकारों के सारभूत अधिकारों[1] के न्यायनिर्णयन के सम्बन्ध में। जहां तक न्यायनिर्णयन का सम्बन्ध है, वह विधि के अनुसार ही किया जाना चाहिए, न कि न्यायालय के स्वविवेकानुसार[2]। हां, जिन बातों के लिए स्वयं विधि में यह व्यवस्था हो कि न्यायालय मामले की परिस्थितियों के अनुसार स्व-विवेकानुसार कार्य करे वहां वह ऐसा कर सकता है।

यह भी स्मरणीय है कि अन्तर्निहित शक्ति का प्रयोग किसी विचाराधीन या निर्णीत मामले में ही हो सकता है। उसका आश्रय लेकर कोई नया मामला प्रस्तुत नहीं किया जा सकता।

---

1. Substantive rights. 2. In his discretion.

—: 0 :—

"गलती बनाए रखने में कोई बहादुरी नहीं होती। न्यायिक अन्तःकरण का समादेश उसे सही करने का होता है।"

[न्याय. श्री पी.एन. भगवती–श्री उमेद बनाम राजासिंह–आ.इं.रि 1975 सु.को. 43 (58) में]

"न्यायाधीश को इतना समझदार होना चाहिए कि वह जान सके कि वह भी गलती कर सकता है, अतः उसे सदैव सीखने के लिए तत्पर रहना चाहिए, उसमें इतनी महानता और ईमानदारी होनी चाहिए कि अहंकारवश हो अपनी राय पर अड़ा न रहे, जिस दिशा में भी सत्य उसे ले जाए, उसे जाना चाहिए, और उसमें इतना साहस होना चाहिए कि वह अपनी भूल मान सके।

[न्याय.डॉसन, पियर्स बनाम डेसामीटर– (1847) ए एम बाई 18 में]

— —

अवश्यपालनीय आदेश और न्यायालय की तत्पश्चात् समय बढ़ाने की शक्ति

[संकलित]

सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 148 के अधीन सिविल न्यायालय को शक्ति प्राप्त है कि पक्षकार द्वारा कोई बात किए जाने के लिए समय बढ़ा दे। कभी ऐसा होता है कि पक्षकार पर्याप्त कारण के बिना बराबर समय मांगता रहता है। ऐसे मामले में न्यायालय थोड़ा सा समय देने के साथ-साथ आदेश में यह जोड़ सकता है कि उस पक्षकार को भविष्य में किसी भी परिस्थिति में और समय नहीं दिया जाएगा। यह बात जोड़ देने से आदेश अवश्यपालनीय आदेश[1] हो जाता है।

बहुधा प्रश्न उठता है कि क्या ऐसे मामलों में भी न्यायालय अपना यह समाधान हो जाने पर कि समय बढ़ाने के लिए पर्याप्त कारण है और समय बढ़ाना न्याय के हित में होगा, और समय बढ़ा सकता है। समय बढ़ाने का विरोध करने वाले पक्षकार की बहस यह होती है कि अब समय बढ़ाने से पूर्ववर्ती आदेश का पुनर्विलोकन[2] हो जाएगा और पुनर्विलोकन के लिए कोई विधिक आधार प्रकट नहीं किया गया है। यह आपत्ति सही नहीं है। ऐसे मामलों में भी न्यायालय समय बढ़ा सकता है। क्योंकि यह प्रश्न बराबर उठता रहता है, अतः **सुरिन्दर सिंह बनाम केन्द्रीय सरकार**—(1986) 4 सु०को०के० 667[1986 उम०नि०सा० 554] से सुसंगत उद्धरण नीचे दिए जाते हैं :—

"अपीलार्थी के रुपया जमा करने के लिए समय बढ़ाना 6 फरवरी, 1970 के पूर्ववर्ती आदेश का पुनर्विलोकन नहीं हो गया। हमारी राय में उच्च न्यायालय ने यह निर्णय करने में भूल की है कि समय का विस्तारण 6 मार्च, 1970 (वस्तुतः 6 फरवरी, 1970) के आदेश का पुनर्विलोकन हो गया। 6 फरवरी, 1970 के प्रारम्भिक आदेश में चूक विषमक खण्ड का आशय यह था कि आदेश का अनुपालन सुनिश्चित हो जाए। उसका यह अभिप्राय नहीं था कि दिया गया समय बीत जाने पर श्री रजनीकांत को समय बढ़ाने की या दूसरा आदेश करने की शक्ति नहीं रह गई। ऐसे आदेशों के प्रयोजन और उद्देश्य पर विचार इस

---

1. Peremptory order. 2. Review

न्यायालय ने **महन्त रामदास बनाम गंगादास**-(1961 3 सु०को०रि० 763 : आ०इं०रि० 1961 सु० को० 882 (883) में किया। उसमें उच्च न्यायालय ने अपीलार्थी को न्यायालय फीस की कमी पूरी करने के लिए समय दे दिया था और यह शर्त जोड़ दी थी कि चूक होने की दशा में अपील खारिज हो जाएगी। अपीलार्थी ने समय बढ़ाने के लिए आवेदन दिया; किन्तु उच्च न्यायालय ने उसे इस आधार पर खारिज कर दिया कि समय बढ़ाना पूर्व आदेश का पुनर्विलोकन हो जाएगा। इस न्यायालय ने उच्च न्यालय के आदेश को रद्द करते हुए कहा :-

ऐसा प्रक्रिया सम्बन्धी आदेश, जो भले ही अवश्यपालनीय प्रकृति का हो, (यहां हम सशर्त डिक्रियों की बात नहीं करते) सारतः भय उत्पन्न करने के लिए दिया जाता है जिससे कि विलम्बकारी वादकारी सही आचरण करे और विलम्ब से बचे; किन्तु वह न्यायालय को उन घटनाओं और परिस्थितियों पर विचार करने से नहीं रोकता जो नियत समय के भीतर हों।'

इस न्यायालय ने यह भी कहा है कि न्यायालय बाद में होने वाली घटनाओं के विषय में कार्यवाही करने में अशक्त नहीं है और न्यायालय अपनी प्रक्रिया को स्थिति के अनुसार बना सकता है। प्रस्तुत मामले में केन्द्र सरकार की शक्तियां बहुत व्यापक हैं और वह उस कठिनाई को दूर करने की दृष्टि से अपनी पद्धति में परिवर्तन कर सकती है, जो उस मामले की परिस्थितियों में किसी पक्षकार को हो और उसके प्रयोजनार्थ वह समय दे सकता है या बढ़ा सकता है, जैसा भी वह बाद की घटनाओं को ध्यान में रखते हुए उस मामले की परिस्थितियों में ठीक समझे। ऐसे आदेश पुनर्विलोकन की कोटि में नहीं आते। निस्संदेह श्री रजनीकान्त ने एक अवश्यपालनीय आदेश किया था। फिर भी उनको अधिकारिता थी कि बाद की घटनाओं पर विचार करके अपीलार्थी को रुपया जमा करने के लिए दिया गया समय बढ़ा दें क्योंकि वह आदेश अधिनियम या नियमों के किसी उपबंध से असंगत नहीं था। हमारी राय में उच्च न्यायालय ने यह निर्णय करने में गलती की कि समय देकर श्री रजनीकान्त ने अपने पूर्व आदेशों का पुनर्विलोकन कर दिया।"

-: 0 :-

"अनुचित वादों को रोकने का सर्वोत्तम ढंग यह है कि इस विषय में सावधानी बरती जाए कि निर्णय न्यायपूर्ण हों। कोई व्यक्ति सफलता की आशा लिए बिना न्यायालय नहीं जाता। और गलत बात में सफलता की आशा कोई व्यक्ति तब तक नहीं कर सकता जब तक उसके पास यह विश्वास करने का कारण न हो कि उसका निर्णय अनुचित विधि के अनुसार या निकृष्ट न्यायाधीश द्वारा किया जाएगा। अनुचित वाद तब तक नहीं बढ़ सकते जब तक कि न्याय-व्यवस्था के बारे में जनता प्रतिकूल धारणा न रखती हो।"

—लार्ड मेकाले।

सरकार के पक्षकार होने की दशा में

न्यायालय को केवल नागरिकों के बीच ही न्याय नहीं करना होता, अपितु नागरिकों और राज्य के बीच भी न्याय करना होता है। न्यायालय को उनमें भी समभाव से कार्य करना चाहिए। यह स्वतः सिद्ध है कि सरकार किसी अनुग्रह[1] की पात्र नहीं होती।

विशेष व्यवस्थाएं--किन्तु इसका व्यवहार पक्ष भी है, जिसका ध्यान विधानमंडल और न्यायालय दोनों ही सरकार के वादकारी होने की दशा में रखते हैं। उदाहरणार्थ, सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 80 में विधान है कि सरकार या किसी सार्वजनिक अधिकारी के विरुद्ध वाद प्रस्तुत किए जाने के पहले सामान्यतः कम से कम दो मास का नोटिस दिया जाना चाहिए। गैरसरकारी व्यक्ति के विरुद्धवाद के लिए ऐसा नोटिस अपेक्षित नहीं होता। सिविल प्रक्रिया संहिता का आदेश 27 भी सरकार तथा सार्वजनिक अधिकारियों को उनके प्रतिवादी होने की दशा में कुछ सुविधाएं दिए जाने का उपबन्ध करता है। परिसीमा अधिनियम (लिमिटेशन ऐक्ट) सामान्य नागरिक द्वारा वाद के लिए जो परिसीमा विहित करता है, सरकार द्वारा वाद के लिए उससे कहीं अधिक परिसीमा विहित करता है। सरकारी परिसरों से बेदखली के लिए तथा सार्वजनिक देयों की वसूली के लिए विशेष संक्षिप्त प्रक्रिया का विधान है। किसी सार्वजनिक अधिकारी पर उसके पदीय कर्तव्यों के सम्बन्ध में फौजदारी का मुकदमा सरकार की मंजूरी के बिना नहीं चलाया जा सकता। ये विशेष उपबंध हैं जिनका लाभ सामान्य नागरिक को प्राप्य नहीं है, किन्तु सरकार तथा सार्वजनिक अधिकारियों को उपलब्ध है।

विशेष व्यवस्था का औचित्य – नवरतन मल बनाम राजस्थान राज्य आ.इं.रि. 1961 सु.को. 1704 में सरकार द्वारा वादों के लिए दीर्घतर अवधि[2] का विधान युक्तिसंगत बैध ठहराया गया। **मन्नालाल बनाम कलेक्टर**– आ.इं.रि. 1961 सु.को. 828 में सार्वजनिक देयों की वसूली की विशेष प्रक्रिया संवैधानिक मानी गई। इसी प्रकार से **मगनलाल छगनलाल बनाम नगर निगम**– आ.इं.रि. 1974 सु.को. 2009 में सार्वजनिक परिसर से बेदखली की विशेष संक्षिप्त प्रक्रिया बैध ठहराई गई।

---

1. Concession. 2. Longar period of limitation.

न्यायालय के आदेश का अपालन :–बहुधा न्यायालयों के आदेशों का पालन करने में सरकार की ओर से विलम्ब हो जाता है। उस पर न्यायालय के अवमान की कार्यवाही प्रारम्भ हो जाती है। ऐसे एक मामले में विचारण न्यायालय ने विरोधी पक्षकारों (सरकार व उसके अधिकारियों) की कुर्की और उन्हें कारागार में बन्द करने का आदेश दे दिया। उच्च न्यायालय ने उसकी पुष्टि कर दी। अन्त में मामला उच्चतम न्यायालय गया।

उच्चतम न्यायालय ने निचले न्यायालयों के आदेश में ही कुछ स्पष्ट कमियां बताई। उसमें यह स्पष्ट नहीं किया गया था कि किस विरोधी पक्षकार की कुर्की की जाय और कौन सी सम्पत्ति कुर्क की जाय, और न यह स्पष्ट था कि किसे कितने समय के लिए सिविल कारागार भेजा जाय। न्यायमूर्तिगण ने बताया कि जहां स्वतन्त्रता या सम्पत्ति से वंचित करना आशयित हो वहां यह मूलभूत है कि न्यायालय का आदेश अस्पष्ट नहीं होना चाहिए। ऐसे आदेशों में अस्पष्टता उनकी एक घातक कमी होती है।

गुणागुण के सम्बन्ध में भी न्यायालय ने कहा कि इस कठोर अधिकारिता में, जहां व्यक्ति की स्वतन्त्रता खतरे में पड़े, यह उचित नहीं है कि सरकार के कार्य करने के ढंग पर विचार किए बिना जल्दी में दण्ड दे दिया जाए। लार्ड कर्जन के समय में यथाप्रचलित कार्यप्रणाली का वर्णन आज भी सटीक बैठता है। उनके द्वारा तीखे शब्दों में की गई भावुकतापूर्ण अभिव्यक्ति इस प्रकार है: "प्रशासन" हाथी के समान होगया है–बहुत भव्य, बहुत शक्तिशाली, उच्च स्तर की बुद्धि वाला, किन्तु उसकी गति में वही शाही मन्थरता है। फाइल पृथ्वी के अपनी धुरी पर घूमने के समान बराबर घूमती रही, भव्यता, गम्भीरता, निश्चिंतता, और मन्थरता के साथ; और अब मुझसे अपेक्षा है कि मैं उसका अंतिम चरण पूरा करूं।"

माननीय उच्चतम न्यायालय ने कहा : हम अपव्ययपूर्ण विलंब को क्षमा का लाभ देने को तैयार नहीं हैं, और न प्रशासन की स्वच्छंद अकर्मण्यता को न्यायालय के आदेश के पालन में चूक के आधार के रूप में सहन कर सकते हैं। विधि न सुस्त अधिकारियों का आदर करती है, न बाबुल अपवंचकों का। किन्तु उस प्रकार के किसी दोष का कोई सबूत हमारे समक्ष पेश नहीं किया गया। जहां दोषी मन होना अनिवार्य है वहां केवल अकर्मण्यता के आधार पर कार्यवाही नहीं की जा [illegible]

न्यायालय ने आगे कहा : उदारता से शक्ति को गरिमा मिल जाती है और हमें लगता है कि प्रस्तुत मामले के तथ्य इससे अधिक कठोर कार्यवाई की अपेक्षा नहीं करते कि भर्त्सना-पूर्वक कहा जाए कि न्यायालय के आदेश का पालन उचित समय के भीतर करें और फिर भी चूक होने पर कठोर कार्यवाही की जाये। हमारा यह मत नहीं है कि सरकार के प्रति अनुचित उदारता बरती जाए या उसके अधिकारियों का विशेष ध्यान रखा जाए। किन्तु जब एक बार यह स्पष्ट सबूत आ गया कि आदेश का पालन कर दिया गया है और खेद भी प्रकट कर दिया गया है तो न्यायालय उदार दृष्टिकोण अपना सकता है, भले ही कागजों से परिपूरित प्रक्रिया में होने वाले अपरिहार्य विलम्ब के कारण अनुपालन में विलम्ब हुआ हो।

—: 0 :—

नोत्पादयेत्स्वयं कार्यं राजा नाप्यस्य पूरुषः ॥
मनु. 8 – 43 ॥

राजा तथा उसके कर्मचारियों को चाहिए कि
स्वयं कोई विवाद खड़ा करने
वाला कार्य न करें।

राजो हि रक्षाधिकृता परस्वादायिनः शठाः ॥
भृत्या भवन्ति प्रायेण तेभ्यो रक्षेदिमा प्रजाः ॥
मनु. 7 – 123 ॥

बहुधा ऐसा होता है कि राज्य से शक्ति प्राप्त
करके बेईमान राजकर्मचारी जनता को सताते
और उससे वसूली करते हैं। राजा
को चाहिए कि अपने ऐसे कर्म-
चारियों से भी प्रजा की
रक्षा [illegible]

व्यादेश[1] और रोक आदेश

-[संकलित]

न्यायालय सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 39 के अधीन अंतरिम व्यादेश[1] जारी कर सकता है। यदि परिस्थितियां ऐसी हों जिनमें तुरन्त आदेश करना अपेक्षित हो तो एकतरफा आदेश कर देना भी उचित होगा। सामान्यतः आदेश करने के पहले विरोधी पक्षकार को नोटिस देना आवश्यक होता है; किन्तु एकतरफा आदेश उस नोटिस की तामील के पहले ही कर दिया जाता है। जहां सरकार या लोकाधिकारी[2] विरोधी पक्षकार हो वहां नोटिस की तामील जिला शासकीय अधिवक्ता पर की जा सकती है। किन्तु जिला शासकीय अधिवक्ता पर मात्र नोटिस की तामील से ही सरकार या संबंधित लोकाधिकारी को आवेदन का उत्तर देने के लिए पर्याप्त अवसर देना नहीं हो जाता। अवसर के वास्तविक और सार्थक होने के लिए यह आवश्यक है कि जिला शासकीय अधिवक्ता को इतना समय मिल जाये कि वह अनुदेश[3] भी प्राप्त कर सके। किस मामले में कितना समय उचित होगा यह विभिन्न परिस्थितियों पर निर्भर करता है, जैसे कि विरोधी पक्षकार कहां है और उससे सम्पर्क करने में कितना समय लगेगा, जिला शासकीय अधिवक्ता और विरोधी पक्षकार के परस्पर सम्पर्क के साधन, मामले के तथ्यों की जटिलता, और यह कि क्या तथ्यों का संग्रह अनेक स्थानों से करना होगा। किन्तु जब वादी द्वारा कहे गए तथ्यों के समर्थन में विवाद-रहित दस्तावेज हों और वादी ने न्यायालय का द्वार अविलम्ब खटखटाया हो और जिस कार्य की शिकायत की गयी हो वह स्पष्टतः अवैध हो तथा ऐसा लगे कि विरोधी पक्षकार किसी आधार पर भी उसे वैध न बता पायेगा, तो न्यायालय को चाहिए कि अनुदेश प्राप्त करने के लिए जिला शासकीय अधिवक्ता को अधिक समय न दे।

अन्तरिम[4] व्यादेश देने से पूर्व न्यायालय को पहले यह देख लेना चाहिए कि क्या उस वाद की विषय-वस्तु सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा-9 के अन्तर्गत आ जाती है और उसे उस विषय में स्थान-विषयक और मूल्य-विषयक अधिकारिता है। यह भी देखना होगा कि वाद किसी कानूनी उपबन्ध द्वारा वर्जित न

1– Injuction. 2– Public-officer. 3– Instructions. 4. Interim.

हो (देखिए-पृष्ठ 81 पर "सिविल न्यायालय की अधिकारिता और उसका वर्जन" शीर्षक वाला निबंध)। यह भी देख लेना चाहिए कि व्यादेश स्वयं आदेश 39 द्वारा वर्जित न हो। यह भी देखना होगा कि अन्तरिम व्यादेश से जिन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ने की सम्भावना है उन सबको पक्षकार बना लिया गया है। कभी-कभी पक्षकार ऐसे दूरस्थ न्यायालय में वाद संस्थित करने जाते हैं जिनकी क्षेत्रिय अधिकारिता संदिग्ध होती है। जैसा कि उच्चतम न्यायालय ने **राजस्थान राज्य बनाम स्वंका प्रापर्टीज**-(1985) 3 सु.को.के. 217 : 1985 उम.नि.सा. 501 में कहा, इस प्रकार के प्रयत्नों को निरुत्साहित करना चाहिए।

भारत संघ बनाम ओसवाल वलेन मिल्स लि०-(1984) 2 सु.को.के. 246 आ.इं.रि. : 1984 सु.को. 1264 : 1984 उम.नि.सा. 262 में उच्चतम न्यायालय ने कहा है कि सम्बन्धित कार्यालय और सुसंगत अभिलेखों से दूर स्थित न्यायालय में कार्यवाही करने का अपरिहार्य[1] परिणाम यह होता है कि उत्तर देने और विरोध करने में विलम्ब हो जाता है। बहुधा दूरस्थ न्यायालय में वाद मुकदमेबाजी की एक चाल के रूप में दाखिल किया जाता है जिससे कि अधिकारियों को रोक आदेश समाप्त कराने के लिए आवेदन देने में कठिनाई हो। उच्चतम न्यायालय के अनुसार ऐसे मामलों में एकमात्र उचित मार्ग यही होगी कि नोटिस जारी कर दिया जाए और उत्तर के लिए थोड़ा सा समय दे दिया जाए। एकदम अंतरिम आदेश जारी करने से और प्रतिवादियों पर यह भार डालने से कि वे न्यायालय में रोक आदेश समाप्त करने के लिए आवेदन दें लोकहित खतरे में पड़ सकता है। यह सर्वविदित है कि एक बार न्यायालय से अन्तरिम आदेश मिल जाने पर पक्षकार कैसी-कैसी तरकीबें करता है जिससे कि आवेदन की अन्तिम सुनवाई न हो सके। अतः यह आवश्यक है कि न्यायालय अन्तरिम अनुतोष[2] देने के मामले में सर्वतोमुखी दृष्टि रखे, विशिष्टतः तब जबकि अन्तरिम अनुतोष लोकाधिकारियों द्वारा अपने कर्तव्य के निर्वहन में तथा अपनी कानूनी शक्ति का प्रयोग करके दिए गए आदेश या किए गए कार्य के विरुद्ध हो। **सिलिगुड़ी नगर पालिका बनाम अमलेन्दु दास**-(1984) 2 सु.को.के. 436 (पैरा 4) में उच्चतम न्यायालय ने फिर यही विचार व्यक्त किए हैं। **च. विजय नरसिंह रेड्डी बनाम परिवहन आयुक्त**-आ.इं.रि. 1985 आन्ध्र प्रदेश 361 (पैरा 21) में आन्ध्र प्रदेश उच्च न्यायालय ने सतर्क किया है कि ऐसे रोक आदेश नहीं किए जाने चाहिए जिनसे लोक प्रशासन का चलना ही ठप हो जाए।

1. Unavoidable. 2. Relief.

रोक आदेश देने के पूर्व न्यायालय का पूरा समाधान हो जाना चाहिए कि वादी का मामला प्रथम दृष्ट्या[1] बनता है, देखिए- **भूपेन्द्र काटोरी बनाम असम राज्य**-आ.इं.रि. 1985 गौहाटी 100। वादी का अपने समर्थन में सत्यपत्र दाखिल कर देना ही न्यायालय के समाधान के लिए पर्याप्त नहीं होता। निस्संदेह उस प्रक्रम[2] पर वादी का शपथपत्र ही न्यायालय के समक्ष एकमात्र साक्ष्य होता है और दूसरे पक्षकार द्वारा उसका खण्डन शेष होता है। किन्तु न्यायालय इस बात के लिए विवश नहीं होता कि आवेदन पर एकतरफा विचार के समय अखण्डित शपथपत्र को वेदवाक्य माने। न्यायालय का वस्तुतः समाधान होना चाहिए कि शपथ पत्र में जो बात कही गई है उसके सही होने की पूरी सम्भावना है। उसको यह भी देख लेना चाहिए कि क्या शपथ पत्र के समर्थन में कोई विश्वसनीय कागजी सबूत उपलब्ध हो सकता था और यदि हो सकता था तो क्या वह शपथपत्र के समर्थन में दाखिल किया गया, और यदि नहीं दाखिल किया गया, तो क्यों।

यदि वादी का स्वयं अपना आचरण उसे सहायता का पात्र न प्रकट करे तो केवल तकनीकी आधार पर अंतरिम आदेश नहीं दिया जा सकता। जो व्यक्ति न्यायालय के समक्ष स्वच्छ हृदय से नहीं आता वह किसी अंतरिम आदेश का हकदार नहीं होता, देखिए-**शाबुद्दीन बनाम नगरपालिका**-आ.इं.रि. 1985 मध्य प्रदेश 252।

अंतरिम व्यादेश के दुरुपयोग को रोकने के लिए प्रतिभूति[3] या वचनबंध[4] की मांग की जा सकती है। दूसरे, अंतरिम आदेश अनिश्चित काल के लिए या आगे आदेश होने तक के लिए देने के बजाय अगली तारीख तक के लिए दिया जा सकता है और फिर उस अगली तारीख पर आगे के लिए निर्णय किया जा सकता है। इसका लाभ यह होता है कि वादी जिसके पक्ष में अंतरिम आदेश हो चुका है वह उस मामले की आगे सुनवाई में अड़ंगा नहीं लगाता है।

एकतरफा अंतरिम आदेश प्राप्त करने के कुछ ही दिन बाद पक्षकार बहुधा एक दूसरा आवेदन दे देता है कि विरोधी पक्षकार के विरुद्ध उस आदेश की अवज्ञा की कार्यवाही की जाए। ऐसे दण्ड की माँग सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 39 के अधीन अथवा न्यायालय अवमान अधिनियम[5] के अधीन की जा सकती है। यदि इस बीच दूसरे पक्षकार ने कोई आवेदन दे दिया हो या वह

1. Prima facie. 2. Stage. 3. Security 4. Undertaking
5. Contempt of Coutts Act.

तत्पश्चात् दे कि एकतरफा अंतरिम आदेश समाप्त किया जाये तो वादी की ओर से यह बहस की जाती है कि विरोधी पक्षकार की सुनवाई तभी हो सकती है जब पहले वह अवमान का निराकरण कर दे। वादी यह तरकीब बहुधा व्यादेश के प्रश्न के गुणागुण पर निर्णय में विलम्ब कराने के लिए लगाता है। इस तरकीब से वादी को यह फायदा हो जाता है कि जब एकतरफा आदेश न तो पुष्ट होता है न समाप्त, तो वह चलता ही रहता है।

विधिक स्थिति यह है कि न्यायालय को यह कहने का अधिकार अवश्य है कि विरोधी पक्षकार के आदेश को समाप्त या संशोधित करने के प्रश्न पर सुने जाने के पूर्व उसे उस आदेश का पालन करना चाहिए; किन्तु जैसा कि **डा. एम. जी. गुप्ता बनाम आगरा विश्वविद्यालय**–आ॰ इ॰ रि॰ 1974 इलाहाबाद 39 में कहा गया है, न्यायालय को इस बात की मनाही नहीं है कि अवमानकारी व्यक्ति की अन्तरिम आदेश को समाप्त या संशोधित करने की बात, उसके द्वारा कथित अवमान का निराकरण किये जाने के पूर्व, सुन ली जाए। इस सामान्य सिद्धान्त के कि अवमानकारी व्यक्ति को चाहिए कि सुने जाने के पूर्व वह अवमान का निराकरण कर दे, अनेक अपवाद हैं। उसे सुना जा सकता है यदि उसका उद्देश्य यह हो कि आदेश या अन्य कार्यवाही, जिसके कारण वह अवमान में फंसा समाप्त की जाए या जब वह उसके विरुद्ध की गई कार्यवाही का इस आधार पर विरोध करे कि उसमें अनियमितता है या न्यायालय को उस विषय में अधिकारिता नहीं है, देखिए– ओसवाल्ड की अवमान्य विषयक पुस्तक "ओसवाल्ड आन कण्टेम्प्ट"। जैसा कि सर आशुतोष मुखर्जी ने **धर्मपाल बनाम महन्त कृष्टो दयाल** (1910) 10 कलकत्ता लॉ जर्नल 631 (636) में कहा, यह स्पष्ट है कि केवल इस कारण कि यह पाया गया कि पक्षकार ने अवमान किया, न्यायालय इस बात के लिए आबद्ध नहीं होता कि उसे कोई भी सहायता या संरक्षण देने से इन्कार कर दे; बल्कि न्यायालय को इस प्रकार से कार्य करना चाहिए कि उसकी अपनी गरिमा बनी रहने के साथ-साथ न्याय के उद्देश्य की भी पूर्ति हो। उपर्युक्त **ओसवाल ब्लूम मिल्स** के मामले में भी अवमान अर्जी दी गई थी, किन्तु उच्चतम न्यायालय के निर्णय किया कि अवमान साबित नहीं हुआ; जिस आदेश की अवहेलना की गई बताई गई वह स्वयं अस्पष्ट था क्योंकि उसमें यह नहीं बताया गया था कि विरोधी पक्षकार प्रश्नगत कार्य कितने समय के भीतर करें। न्यायमूर्तिगण ने निर्णय किया कि विरोधी पक्षकारों को अवमान के लिए दण्डित करने के लिये आवेदन एक ऐसी दबाव डालने वाली तरकीब[1] थी जिससे कि विरोधी पक्षकार अर्जीदार के पक्ष में कार्य करने के लिये विवश हो जाये।

1. Pressure tattic.

जहां यह कहा जाय कि अमुक अधिनियम के अधीन प्राधिकारी ने अमुक आदेश करने में अपनी अधिकारिता के बाहर जाकर कार्य किया और वह बात दृश्यतः[1] सही लगे तो भी सिविल न्यायालय के लिए सामान्यतः यह उचित नहीं होगा कि एकतरफा आदेश जारी कर दे। ऐसे मामलों में उचित यह होगा कि दूसरे पक्षकार को या सम्बन्धित अधिकारियों को नोटिस जारी किया जाए, जिसमें न्यूनतम अपेक्षित समय उन्हें दिया जाए जिससे कि उनके विरुद्ध अन्तरिम आदेश किए जाने के पूर्व वे अपनी स्थिति न्यायालय के समक्ष स्पष्ट कर सकें। यदि किसी विशेष मामले में न्याय के हित में एकतरफा आदेश पारित करना आवश्यक हो तो वह बहुत थोड़े व निश्चित समय के लिए होना चाहिए और वादी को आदेश की पूर्ववर्ती शर्त के रूप में यह निदेश दिया जा सकता है कि वह या तो प्रतिभूति दे या न्यायालय से उचित वचनबद्ध करें कि उसका कथन असत्य या निराधार पाया जाने पर वह अमुक कार्य करेगा; या उससे यह कहा जा सकता है कि नोटिस की तामील न्यायालय के अगले कार्य दिवस के लिए कमिश्नर या विशेष पत्रवाहक द्वारा करा दे और वह एकतरफा आदेश एकाध दिन ही लागू रहे। इससे विरोधी पक्षकार के प्रति, जिसे उस समय तक न्यायालय में अपनी बात कहने का अवसर ही नहीं मिला, अन्याय होते रहना बच जायेगा।

विनिर्दिष्ट अनुतोष अधिनियम[2] की धारा 38 में यह बताया गया है कि सिविल न्यायालय स्थायी व्यादेश कब दे सकता है। इस धारा में संविदा की बाबत अनुतोष के विषय में अधिनियम के अध्याय 2 का उल्लेख है। इस अध्याय 2 में धाराएँ 9 से 25 तक है। धारा 10 से 13 तक उन संविदाओं के विषय में है जिनका विनिर्दिष्ट पालन कराया जा सकता है। धारा 14 उन संविदाओं के विषय में है जिनका विनिर्दिष्ट पालन नहीं कराया जा सकता। इस धारा 14 का उल्लेख निजी कर्मचारियों के सेवा विषयक विवादों के सम्बन्ध में पहले किया जा चका है। जिस संविदा का विनिर्दिष्ट पालन नहीं कराया जा सकता उसकी बाबत कोई व्यादेश भी जारी नहीं किया जा सकता। यह बात धारा 41 (ङ) में और भी स्पष्ट कर दी गई है। उसमें कहा गया है कि उस संविदा के भंग को रोकने के लिये व्यादेश नहीं दिया जा सकता जिसका विनिर्दिष्ट पालन नहीं कराया जा सकता।

---

1. Apparently. 2. Specific Relief Act

धारा 14 और 38 को मिलाकर पढ़ने पर यह प्रकट होता है कि व्यादेश उस दशा में नहीं दिया जा सकता जबकि वादी के अधिकारों का कथित अतिक्रमण ऐसा हो कि धन के रूप में प्रतिकर से पर्याप्त अनुतोष हो सकता हो या जबकि सम्पत्ति या उसके उपयोग के विषय में वादी के अधिकारों के अतिक्रमण से होने वाली या संभाव्य वास्तविक हानि आसानी से आंकी जा सकती हो।

विनिर्दिष्ट अनुतोष अधिनियम की धारा 41 के अनुसार निम्नलिखित प्रकार के व्यादेश सामान्यतः नहीं दिये जा सकते :

(क) जिस वाद में व्यादेश चाहा गया हो उसके पहले से विचाराधीन किसी न्यायिक कार्यवाही में पैरवी करने से किसी व्यक्ति को रोकने के लिये व्यादेश नहीं दिया जा सकता, सिवाय उस दशा के जबकि ऐसा व्यादेश देना इसलिये आवश्यक हो कि एक ही बात के लिये अनेक मुकदमे न चलें।

(ख) किसी व्यक्ति को ऐसे न्यायालय में कार्यवाही चलाने या उसकी पैरवी करने से रोकने के लिये व्यादेश नहीं दिया जा सकता जो व्यादेश देने वाले न्यायालय के अधीनस्थ न हो।

(ग) किसी व्यक्ति को संसद या विधान मण्डलों के किसी सदन में आवेदन देने से नहीं रोका जा सकता।

(घ) अपराध के मामले में कोई कार्यवाही प्रारम्भ करने या चलाने से किसी व्यक्ति को नहीं रोका जा सकता।

(ङ) जिस संविदा का विनिर्दिष्ट पालन नहीं कराया जा सकता उसके भंग को रोकने के लिए भी व्यादेश जारी नहीं किया जा सकता।

(च) किसी ऐसे कार्य को न्यूसेन्स मानकर नहीं रोका जा सकता जिसका न्यूसेन्स होना उचित तौर पर स्पष्ट न हो।

(छ) किसी ऐसे उल्लंघन को चालू रखने से नहीं रोका जा सकता जिसके लिए वादी की उपमति (मौन सम्मति) है।

(ज) जब यह निश्चय है कि समान प्रभाव रखने वाले अनुतोष अन्यथा प्राप्त किए जा सकते हैं तब व्यादेश जारी नहीं किया जा सकता, सिवाय उस दशा के जबकि मामला न्यासभंग[1] का हो।

---

1. Breach of trust.

(झ) उस दशा में भी व्यादेश नहीं दिया जा सकता जबकि स्वयं वादी या उसके अभिकर्ता (एजेंट) का आचरण ऐसा रहा हो जिसके कारण वह न्यायालय की सहायता का पात्र न रह गया हो।

(ञ) जबकि वादी का प्रश्नगत मामले में कोई अपना हित न हो तो उसके आवेदन पर व्यादेश नहीं दिया जा सकता।

सिविल प्रक्रिया संहिता का आदेश 39. नियम 2 देखते समय उक्त उपबंधों का ध्यान रखना चाहिये। उत्तर प्रदेश में उक्त नियम 2 का संशोधन उत्तर प्रदेश अधिनियम सं. 57, सन् 1976 द्वारा किया गया है। उस संशोधन ने नियम 2 में एक परन्तुक जोड़ दिया है। यथासंशोधित सम्पूर्ण नियम इस प्रकार है :-

"2. **भंग की पुनरावृत्ति या जारी रखना अवरुद्ध करने के लिए व्यादेश** :- (1) संविदा-भंग करने से या किसी भी प्रकार की अन्य क्षति करने से प्रतिवादी को अवरुद्ध करने के किसी भी वाद में, चाहे वाद में प्रतिकर का दावा किया गया हो या न किया गया हो, वादी प्रतिवादी को परिवादित संविदा-भंग या क्षति करने से या कोई भी संविदा-भंग करने से या तद्भूत क्षति करने से, जो उसी संविदा से उद्भूत होती हो या उसी सम्पत्ति या अधिकार से सम्बन्धित हो, अवरुद्ध करने के अस्थायी व्यादेश के लिए न्यायालय से आवेदन, वाद प्रारम्भ होने के पश्चात् किसी भी समय और निर्णय के पहले, चाहे पश्चात्, कर सकेगी।

(2) ऐसा व्यादेश, ऐसे व्यादेश की अवधि के बारे के, लेखा रखने के बारे के, प्रतिभूति देने के बारे के ऐसे निबन्धनों पर, या अन्यथा, जैसा न्यायालय ठीक समझे न्यायालय आदेश द्वारा अनुदत्त कर सकेगा :-

परन्तु ऐसा कोई व्यादेश-

(क) जहां विनिर्दिष्ट अनुतोष अधिनियम, 1963 की धारा 38 और धारा 41 के उपबंधों को ध्यान में रखते हुए कोई शाश्वत व्यादेश अनुदत्त न किया जा सके या

(ख) किसी कर्मचारी के, जिसके अन्तर्गत सरकारी कर्मचारी भी है, स्थानान्तरण, उसके निलम्बन, उसकी पदावनति, उसकी अनिवार्य सेवानिवृत्ति, उसकी पदच्युति। उसके हटाने या अन्य प्रकार से उसकी सेवा-समाप्ति या उससे कार्यभार ग्रहण करने के लिए किसी आदेश के प्रवर्तन को रोकने के लिए, अथवा

(ग) सरकारी कर्मचारी के विरुद्ध लम्बित या आशयित किसी अनुशासनिक कार्यवाही को या किसी प्रतिकूल प्रविष्टि के प्रभाव को रोकने के लिए, अथवा

(घ) किसी शिक्षा संस्था, जिसके अन्तर्गत विश्वविद्यालय भी है, या किसी सोसाइटी के आन्तरिक प्रबन्ध या कार्यकलाप को प्रभावित करने के लिए, अथवा

(ङ) किसी निर्वाचन को अवरुद्ध करने के लिए, अथवा

(च) सरकार द्वारा किए जाने के लिए आशयित किसी नीलाम को या किए गए किसी नीलाम के प्रभाव को अवरुद्ध करने के लिए, अथवा

(छ) जब तक कि पर्याप्त प्रतिभूति न ली जाए तब तक भू-राजस्व की भांति वसूल करने योग्य किसी देय की वसूली की कार्यवाही को रोकने के लिए, अथवा

(ज) ऐसे किसी मामले में, जहां तत्समय प्रवृत्त किसी अधिनियमिति के अधीन किसी विश्वविद्यालय के कुलाधिपति को कोई निर्देश अपील किया जा सकता हो,

अनुदत्त नहीं किया जाएगा और इन उपबन्धों का उल्लंघन करके अनुदत्त व्यादेश के लिये कोई आदेश शून्य होगा ."

उत्तर प्रदेश में जोड़ा गया परन्तुक पहिले से ही स्थापित विधिक स्थिति को ही दोहराता व स्पष्ट करता है। जहां वाद ही वर्जित है (जैसा कि उपनियम (2) के खण्ड (ख), (ग), (घ), (ङ), (छ) व (ज) में वर्णित मामलों में होगा) वहां अस्थायी व्यादेश भी नहीं दिया जा सकता। इस परन्तुक का खण्ड (क) केवल उस बात को स्पष्ट करता है जो पहले विवक्षित[1] थी। अंतरिम अनुतोष उस अनुतोष से अधिक नहीं हो सकता जो कि न्यायालय वाद के अन्त में सफल होने की दशा में वादी को दे सकता है। इस प्रकार यदि वाद में स्थायी व्यादेश की डिग्री नहीं दी जा सकती तो अन्तरिम आदेश द्वारा अस्थायी व्यादेश भी नहीं दिया जा सकता। परन्तुक का खण्ड (घ) भी उन वादों के सम्बन्ध में है जो अभिव्यक्त[2] या विवक्षित रूप से वर्जित है। जब सरकार नीलाम करती है तो ऐसा नीलाम या तो किसी संविदा के सम्बन्ध में हो सकता है या सार्वजनिक देयों की वसूली की कार्यवाही में हो सकता है। इन दो में से किसी दशा में भी व्यादेश नहीं दिया जा सकता।

---

1. Implied. 2. Express.

इसलिये यह आवश्यक है कि अस्थायी व्यादेश के लिये आवेदन ग्रहण या स्वीकार करने के पहले न्यायालय इन सब उपलब्धों पर विचार कर लें।

यदि वाद ही वर्जित हो तो न्यायालय वादपत्र को आदेश 7, नियम 11 (घ) सि.प्र.सं. के अधीन खारिज कर सकता है और ऐसा प्रतिवादी को लिखित कथन दाखिल करने को कहने के पूर्व भी किया जा सकता है। लिखित कथन दाखिल करने के लिये समन पहले ही तामील कर दिये जाने की दशा में वह न्यायालय से अनुरोध कर सकता है कि उसके लिखित कथन दाखिल करने के पहले प्रारम्भिक आपत्ति का निर्णय कर दिया जाये।

सारांश यह है कि कोई भी अंतरिम व्यादेश देने के पूर्व न्यायालय को यह देख लेना चाहिये कि जिस वाद में व्यादेश चाहा जा रहा है वह ग्राह्य है तथा उसकी अधिकारिता में है और जो व्यादेश चाहा जा रहा है वह किसी विधि द्वारा वर्जित नहीं है। सामान्यतः व्यादेश दूसरे पक्षकार को सुनवाई का अवसर देने के बाद दिया जाना चाहिये। हाँ, यदि मामला इस प्रकार का हो कि विलम्ब से वाद या आवेदन ही व्यर्थ हो जायेगा तो एकतरफा व्यादेश दिया जा सकता है। किन्तु उसे देने के पहले न्यायालय को अपना समाधान कर लेना चाहिये कि व्यादेश के पक्ष में प्रथम दृष्ट्या मामला बनता है। न्यायालय की आदेशिका के दुरुपयोग को रोकने की दृष्टि से ऐसा व्यादेश यथासंभव सीमित समय के लिये होना चाहिये तथा व्यादेश देने के पूर्व वादी से प्रतिभूति ली जा सकती है या बचनबन्ध कराया जा सकता है, जिससे कि यदि बाद में निर्णय वादी के प्रतिकूल हो तो दूसरे पक्षकार की क्षतिपूर्ति कराई जा सके।

राज्ञा विवर्जितो यस्तु पौरविरोधकृत्।
राष्ट्रस्य वा समस्तस्य प्रकृतीनां तथैव च॥
अन्येऽपि ये पुरग्राममहाजनविरोधिनः।
अनादेयास्तु ते सर्वे व्यवहाराः प्रकीर्तिताः॥

—बृहस्पति, वीरमित्रोदय 2–5 में उद्धृत॥

ऐसा वाद ग्रहण नहीं करना चाहिये जो कानून के द्वारा वर्जित हो, अथवा जो नगर, देश या नागरिकों के हित के प्रतिकूल हो, या जो नगर या ग्राम के भले लोगों का विरोध करे।

—: 0 :—

विवाद्यकों[1] की विरचना

– [संकलित]

किसी भी विवाद को ठीक से निपटाने के लिए पहले साफ तौर पर यह जानना आवश्यक होता है कि विवाद किस बात पर है। यही बात वादों के निर्णय को भी लागू होती है। प्रत्येक वादी न्यायालय से कुछ अनुतोष[2] माँगता है। अपनी मांग के समर्थन में वह वादपत्र में कुछ तथ्यों का कथन करता है और बहुधा किसी न किसी विधि का भी आश्रय लेता है। तथ्यों का कथन दो प्रकार का होता है: (i) तात्त्विक तथ्यों का कथन; (ii) उनका विवरण। इन तात्त्विक तथ्यों के संग्रह को ही वाद-हेतुक[3] कहते हैं इनमें से एक या अधिक तथ्यों का अभाव होने पर वादी को अनुतोष नहीं दिया जा सकता। जब वादी किसी तथ्य का कथन करता है तो प्रतिवादी या तो उसे स्वीकार करता है या उससे इंकार करता है या उसमें कोई बात जोड़ता है। यदि वादी की बात प्रतिवादी द्वारा पूर्णतः स्वीकार हो जाए तब तो विवाद का कोई अवसर नहीं रहेगा। विवाद एक या अधिक तथ्यों के अस्वीकार होने पर ही होता है। जब प्रतिवादी अपने लिखित कथन[4] में कोई नई बात कहता है तो वादी द्वारा उसका उत्तर आवश्यक होता है, जैसे कि वह कोई मुजराई[5] चाहे या प्रतिदावा[6] करे या अन्य कोई ऐसा कथन करे जिसके कारण वादी अनुतोष का हकदार न माना जाए।

एक पक्ष के कथन और दूसरे के खण्डन से ही विवाद रूप ग्रहण करता है। विवाद किन बातों पर है इस विषय में स्थिति को स्पष्ट करने की दृष्टि से विवाद बिन्दुओं को प्रश्नों का रूप दे दिया जाता है। इन्हीं प्रश्नों को "विवाद्यक" कहते हैं। इन विवाद्यकों की विरचना स्वयं न्यायाधीश द्वारा की जाती है। इस संबंध में आवश्यक व्यवस्था सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 के आदेश 14 के विभिन्न नियमों में की गई है। नियम 1 के अनुसार विवाद्यक तब उत्पन्न होता है जब किसी तात्त्विक तथ्य या विधि विषयक प्रस्थापना[7] का एक पक्ष कथन करे और दूसरा पक्ष उससे इंकार करे। तात्त्विक प्रस्थापना वह होती है जो कि वादी को वाद करने का अधिकार साबित करने के लिए प्रकट करना चाहिए या जो प्रतिवादी को अपनी प्रतिरक्षा में सफल होने के लिऐ प्रकट करना चाहिए।

---

1. Issues. 2. Relief 3. Cause of action. 4. Written statement.
5. Set off. 6. Counter-claim. 7. Preposition.

प्रत्येक तात्त्विक प्रस्थापना पर, जिसका एक पक्ष ने कथन किया हो और जिससे दूसरे पक्ष में इन्कार किया हो, एक अलग विवाद्यक की रचना की जानी चाहिए।

बहुधा न्यायालय द्वारा विवाद्यकों की रचना पर आवश्यक ध्यान नहीं दिया जाता। उसके परिणामस्वरूप वाद के तथ्यों में अस्पष्टता आती है और निर्णय में विलम्ब ही नहीं जटिलता भी उत्पन्न हो जाती है। कभी-कभी इसी कारण अपील न्यायालय मामला प्रतिप्रेषित[1] कर देता है। यदि विवाद्यकों की विरचना करने के समय न्यायालय मामले पर पूरा ध्यान दे तो निश्चय ही सही निर्णय में सुविधा होने के अतिरिक्त न्यायालय का बहुत सा समय बच जाता है। कहीं-कहीं यह प्रक्रिया देखने में आती है कि न्यायाधीश अधिवक्ताओं से विवाद्यक बनवा लेते हैं और फिर उन्हें आदेशपत्र में लिखा या टाइप करा लेते हैं। इस सम्बन्ध में वे स्वयं अपने मस्तिष्क का प्रयोग नहीं करते। इससे आगे चलकर वाद के निर्णय में कठिनाई और विलम्ब दोनों को प्रश्रय मिलता है। यदि न्यायाधीश विवाद्यकों की विरचना के समय ही इस विषय में स्पष्ट हो जाये कि विवाद किन प्रश्नों पर है और तदनुसार वह स्पष्ट विवाद्यक बना दे तो उसकी बहुत सी अनावश्यक साक्ष्य और बहस से बचत हो जायेगी।

विवाद्यकों की विरचना नियमित वाद की पहली सुनवाई के अवसर पर होती है। वस्तुतः विवाद्यकों की विरचना वाद की सुनवाई का भाग होती है। इस दृष्टि से उस दिन पक्षकारों के मामलों को भली-भांति सुनना और समझना नितान्त आवश्यक होता है।

विवाद्यकों की विरचना प्रथमतः पक्षकारों के अभिवचनों[2] के आधार पर होती है। आदेश 14 नियम 3 के अनुसार इसके लिए निम्नलिखित सामग्री को आधार बनाया जा सकता है :

(क) पक्षकारों द्वारा या उनकी ओर से उपस्थित होने वाले किन्हीं व्यक्तियों या पक्षकारों के अधिवक्ताओं द्वारा किए गए सशपथ कथन;

(ख) अभिवचनों में या परिप्रश्नों[3] के उत्तर में किए गए कथन;

(ग) पक्षकारों द्वारा दाखिल किए गए कागज।

इनमें भी विशेष महत्व अभिवचनों का ही होता है। यह सुप्रतिष्ठित विधि है

---

1. Remand. 2. Pleadings. 3. Interrogatories.

कि पक्षकार अपने अभिवचनों (अर्थात्, यथास्थिति, वादपत्र या लिखित कथन) के बाहर जाकर साक्ष्य नहीं दे सकता और यदि देता है तो न्यायालय उस साक्ष्य पर विचार नहीं करेगा। जिस अन्य सामग्री को विवाद्यक की विरचना में आधार बनाया जाता है वह अभिवचनों के स्पष्टीकरण की दृष्टि से ही हो सकती है।

अभिवचनों का विधिक सिद्धान्त यह है कि वह स्पष्ट होना चाहिए। जो पक्षकार जो बात कहता है वह स्पष्ट रूप में कहे और प्रतिवादी स्पष्ट करे कि वह कितनी बात मानता है और कितनी नहीं मानता। केवल "इंकार है" या "स्वीकार नहीं है" कह देने से काम नहीं चलता। इसीलिए आदेश 8 नियम 3 में कहा गया है कि प्रतिवादी को ऐसे प्रत्येक तथ्य-विषयक कथन के विषय में अलग से कहना चाहिए कि वह उसे सत्य नहीं मानता। आगे नियम 4 में कहा गया है कि उसे इंकार गोल-मोल ढंग से न करके स्पष्ट रूप से करना चाहिए। उदाहरणार्थ, यदि यह कहा जाए कि उसे अमुक राशि दी गई तो उस राशि की प्राप्ति से इंकार कर देना पर्याप्त नहीं होगा; बल्कि उसे यह कहना चाहिए कि उसे न वह राशि मिली और न उसका कोई भाग मिला; अन्यथा उसे कहना चाहिए कि उसे उतनी नहीं तो कितनी राशि मिली। इसी प्रकार यदि अनेक परिस्थितियों का कथन हो तो उन सब के विषय में अलग-अलग अस्वीकृति होनी चाहिए और यह बताया जाना चाहिए कि प्रतिवादी का अपना कहना क्या है।

इस सब विधि के होते हुए भी बहुधा अभिवचनों में अस्पष्टता रहती है। यह अस्पष्टता कभी तो सम्बन्धित पक्षकार या अधिवक्ता की लापरवाही के कारण रह जाती है और कभी जानबूझकर लाई जाती है जिससे कि पक्षकार आगे चलकर परिस्थितियों के अनुसार अपनी बात कुछ बदल कर कह सके या अनेक विकल्पों में से कोई एक विकल्प अपना सके। इसलिए आदेश 6 नियम 5 में अभिवचनों को स्पष्ट कराने का विधान किया गया है। किसी भी दशा में यह आवश्यक है कि विवाद्यकों की विरचना के पहले पक्षकारों के अभिवचन स्पष्ट करा लिया जाए। आदेश 10 के नियम 1 में स्पष्ट निदेश है कि वाद की पहली सुनवाई के अवसर पर न्यायालय एक पक्षकार द्वारा कही गई बात की दूसरे पक्षकार द्वारा स्वीकृति या इंकार को स्पष्ट कराकर उसे अभिलिखित करे। यही नहीं, नियम 2 में यह आदेश है कि वादी की पहली सुनवाई के अवसर पर न्यायालय वाद की विवादित बातों को स्पष्ट कराने के लिए उपस्थित पक्षकारों, अभिकर्ताओं या अधिवक्ताओं के बयान लेगा। पहले यह वैकल्पिक था; किन्तु

अब 1976 के संशोधन द्वारा यह अनिवार्य कर दिया गया है और आदेश 14 नियम 1(5) में स्पष्ट विधान है कि वाद की पहली सुनवाई के समय न्यायालय विवादकों की विरचना वादपत्र और लिखित कथन पढ़ने तथा आदेश 10 नियम 2 के अनुसार बयान लेने और पक्षकारों व उनके अधिवक्ताओं को सुनने के बाद करेगा। इस आदेश का पूरी तौर से पालन किया जाना चाहिए। तभी सही विवादक बन सकेंगे।

एक सरल तरीका यह हो सकता है कि संबन्धित पक्षकारों से तथ्य-विषयक प्रश्न करके और उनके अधिवक्ताओं से विधि विषयक प्रश्न करके विवाद को स्पष्ट और यथासंभव सीमित कराया जाए। उदाहरणार्थ, यदि बेदखली के किसी वाद में प्रतिवादी का कथन हो कि किराएदारी समाप्त करने का नोटिस अविधिमान्य है तो प्रतिवादी से यह स्पष्ट करा लेना चाहिए कि वह नोटिस को किस आधार पर अविधिमान्य बताता है तथा विवादक को उसी आधार तक सीमित कर लेना चाहिए। इसी प्रकार से यदि यह कहा जाता है कि वाद परिसीमा-वर्जित[1] है तो तथ्यों के संदर्भ में यह स्पष्ट करा लेना चाहिए कि प्रतिवादी परिसीमा अधिनियम के किस अनुच्छेद का और किस आधार पर आश्रय लेता है। वादी से भी इस विषय में स्थिति स्पष्ट कराई जा सकती है और यदि उसका कहना हो कि अमुक कारण से परिसीमा-काल बढ़ गयी है तो वह कारण भी स्पष्ट करा लिया जाना चाहिए। इसी प्रकार से यदि वादी कहे कि अमुक तारीख को उसने प्रतिवादी को इतने रुपये का माल दिया और प्रतिवादी इंकार करे तो उससे यह स्पष्ट कर लेना चाहिए कि उस तारीख को या उसके आस-पास उसे वादी से कोई भी माल मिला या नहीं। पक्षकारों एवं उनके अधिवक्ताओं से इस प्रकार पूछताछ करने से विवाद बहुत परिसीमित हो जायेगा और तदनुसार विवादक भी स्वतः परिसीमित बनेंगे। निराधार आपत्तियां समाप्त हो जाएंगी। परिणामस्वरूप व्यर्थ का साक्ष्य देने और अनावश्यक बहस करने का अवसर प्रायः समाप्त हो जायेगा।

पहली सुनवाई के दिन पक्षकारों से यह भी अपेक्षा की जाती है कि वे अपने-अपने दस्तावेज (कागज) उसी दिन दाखिल कर दें देखिए-आदेश 13 नियम 1; इस विधिक निदेश की ओर भी प्रायः यथेष्ट ध्यान नहीं दिया जाता और पक्षकारों के आवेदन मात्र पर उन्हें भविष्य में कागज दाखिल करने का

1. Time-barred.

समय दे दिया जाता है। यह उचित नहीं है। आग्रह इस बात पर होना चाहिए कि यथासंभव सभी कागज विवादकों की विरचना के पहले दाखिल कर दिये जाएं और समय केवल ऐसे कागजों के लिए दिया जाए जिन्हें उस दिन दाखिल करना सम्भव न हो, या जिन्हें बाद में दाखिल करने के लिए कोई उचित कारण हो। जब न्यायालय एक बार इस प्रकार की पद्धति अपना लेगा तो पक्षकार एवं उनके अधिवक्ता भी तदनुसार आचरण करने लगेंगे। एक पक्षकार द्वारा दाखिल किये गये कागजों पर दूसरे पक्षकार की स्वीकृति या अस्वीकृति लिखानी होती है। प्रायः लोग सरसरी तौर पर लिख देते हैं "स्वीकार नहीं है" जिसका अर्थ यह होता है कि दाखिल करने वाला पक्षकार उस कागज को औपचारिक रूप से साबित करे। इस ओर भी ध्यान देने की आवश्यकता है कि किसी कागज पर इस प्रकार हल्के तौर पर "स्वीकार नहीं है" न लिखा जाए। न्यायालय आवश्यक प्रश्न पूछ कर स्थिति को स्पष्ट करा सकता है। उदाहरणार्थ, यदि कोई पक्षकार अपने द्वारा भेजे गए तथा दूसरे पक्षकार द्वारा दाखिल किए गए पत्र को ही स्वीकार न करें अथवा दूसरे पक्षकार द्वारा उसे भेजे गए पत्र की प्रतिलिपि स्वीकार न करे तो न्यायालय प्रश्न पूछ कर स्थिति को स्पष्ट करा सकता है। प्रतिलिपि स्वीकार न किए जाने की दशा में वह पत्र प्राप्त करने वाले पक्षकार को आदेश दे सकता है कि मूल प्रति दाखिल करे। यदि पक्षकार उपस्थित नहीं है और अधिवक्ता बयान दे कि वह दस्तखत नहीं पहचान सकता तो इस बात का आग्रह किया जा सकता है कि पक्षकार स्वयं आकर बयान दे। यह स्मरणीय है कि यदि कोई पक्षकार किसी दस्तावेज को अनुचित रूप से स्वीकार करे और दूसरे पक्षकार को उसे साबित करने के लिए अनावश्यक व्यय करना पड़े, तो उसका खर्चा अस्वीकार करने वाले पक्षकार पर मुकदमे के निर्णय से अलग भी डाला जा सकता है, देखिए–आदेश 12, नियम 2; न्यायालय इस शक्ति के प्रयोग की सम्भावना से बहुत कुछ कार्य करा सकता है। इसी प्रकार से जब कोई कथन जानबूझ कर असत्य का तंग करने वाला लगे तो उसके बारे में कथन करने वाले से विशेष खर्चा दिलाया जा सकता है, देखिए–धारा 35-क सि.प्र.सं.। इस धारा के प्रयोग की सम्भावना से भी बहुत-सी अनुचित उक्तियों और अस्वीकृतियों से छुटकारा पाया जा सकता है। इस बात का भी प्रयास किया जा सकता है कि पक्षकार बयान दे दें कि वे दूसरे पक्ष को अपने कागज औपचारिक रूप से साबित करने से छूट देते हैं। इससे आगे चलकर बहुत सा समय बच जाएगा तथा पक्षकार भी व्यर्थ की परेशानी से बच जाएंगे। (अगले निबन्ध में इस प्रकार के बयान के प्रभाव पर विचार किया गया है।) कहने का तात्पर्य यही है कि

विवाद्यकों की विरचना के पहले न्यायालय को स्वयं अभिवचन, कागज आदि देखकर तथा आवश्यक पूछताछ करके यह सुनिश्चित कर लेना चाहिए कि विवाद किन प्रश्नों पर है और यह भी प्रयत्न करना चाहिए कि ये प्रश्न यथासंभव स्पष्ट और सीमित हों।

विवाद्यक विरचना में यह बात ध्यान रखने की होती है कि प्रश्न में सबूत का भार किस पक्षकार पर रहेगा और प्रश्न उसी रूप में बनाया जाना चाहिए। उदाहरणार्थ, यदि वादी ऋण देने की बात कहता है और प्रतिवादी उसे अस्वीकार करता है तो प्रश्न यह बनेगा कि "क्या प्रतिवादी को अमुक ऋण दिया?" न कि यह कि "क्या प्रतिवादी को अमुक ऋण मिला?" इसी प्रकार से यदि प्रतिवादी किसी अदायगी की बात कहता है तो प्रश्न यह बनेगा कि "क्या प्रतिवादी ने अमुक अदायगी की?" न कि यह कि "क्या वादी को कुछ भी अदायगी नहीं हुई?"

यह भी स्मरणीय है कि सुनवाई की पहली तारीख को विवाद्यक की विरचना करने के बाद न्यायालय को उसमें जोड़ने घटाने, और परिवर्तन करने की भी शक्ति प्राप्त है, देखिए–आदेश 14 नियम 5। इस शक्ति का आवश्यकतानुसार आश्रय लेकर विवाद्यकों में परिवर्तन किया जा सकता है। किन्तु इस शक्ति का आश्रय लेकर यह करना उचित न होगा कि विवाद्यकों की विरचना के समय इस आधार पर पूरा ध्यान न दिया जाए कि भविष्य में परिवर्तन किया जा सकता है।

विवाद्यकों की विरचना के समय यदि न्यायालय पूर्ण मनोनियोग से कार्य करता है तो पक्षकारों तथा उनके अधिवक्ताओं को भी प्रारम्भ से पूर्ण तैयारी कर लेनी होगी और ढीलढाल स्वतः समाप्त हो जाएगी। विवाद स्पष्ट एवं सीमित हो जाएगा तथा जितना समय विवादकों की विरचना में लगाया गया उससे कहीं अधिक समय आगे सुनवाई में बच जाएगा तथा निर्णय करने की सुविधा के साथ-साथ बेहतर न्याय तो होगा ही।

—: 0 :—

अप्रसिद्धं निराबाधं निरर्थं निष्प्रयोजनम् ॥
असाध्यं वा रिक्तं वा पक्षाभासं विवर्जयेत् ॥

अप्रसिद्धं मदीयं शालिविपाकं गृहीत्वा न प्रयच्छतीत्यादि । निराबाधं अस्मद्-गृहदीपकप्रकाशेनायं स्वगृहे व्यवहरतीत्यादि । निरर्थकमभिधेयरहितं कचटतपजडद-गवेत्यादि । निष्प्रयोजनं यथायं देवदत्तोऽस्मद्गृहसन्निधौ सुस्वरमधीय इत्यादि । असाध्यं यथाहं देवदत्तेन सभ्रूभंगमुपहसित इत्यादि । एतत्साधनासम्भवादसाध्यम् । अल्पकालत्वाच्च शास्त्रिसंभवो, लिखितं दूरतः, अल्पत्वाच्च दिव्यमिति । विरुद्धं यदाह मूकेन जल्पंइत्यादि । पुरराष्ट्रादिविरुद्धं .....

— मिताक्षरा 2–6 ॥

वाद पद में ऐसी बात नहीं होनी चाहिए जो अनुभवातीत हो जैसे इसने मेरे खरगोश के सींग ले लिए; न ऐसी बात होनी चाहिए जिससे कोई क्षति न हो, जैसे यह हमारे दीपक के प्रकाश से अपने घर में कार्य करता है, न ऐसी शब्दावली होनी चाहिये जो निरर्थक हो, न विषयोचन शिकायत होनी चाहिये, जैसे हमारे घर के पास सस्वर पढ़ता है, न असाध्य बात होनी चाहिये जैसे हमें देखकर इसने मुह बनाया, न लोक-विरुद्ध बात होनी चाहिये, न आत्म-विरोधी बात होनी चाहिये, न वाद-हेतुकों का कुसंयोजन होना चाहिये — — —

सिविल मामलों में दस्तावेज औपचारिक रूप से साबित करने से छूट

[संकलित]

पक्षकारों के अधिवक्ताओं से अपेक्षा की जाती है कि एक दूसरे के दस्तावेजी साक्ष्य पर यह पृष्ठांकित करें कि दूसरे पक्षकार की दस्तावेजों में से कौन-सी स्वीकार है और कौन सी नहीं। अधिवक्ता प्रायः लिख देते हैं "स्वीकार नहीं" जो यह कहने के समान हुआ कि दस्तावेज न स्वीकार है और न अस्वीकार। इसका परिणाम यह होता है कि विरोधी पक्षकार को दस्तावेज साक्ष्य के रूप में पढ़वाने के लिए उसे प्ररूपी (औपचारिक) तौर पर साबित करना होता है।

विवाद्यक स्थिर करने[1] की तारीख को न्यायालय केवल "स्वीकृत" दस्तावेजों और **लोक दस्तावेजों पर** प्रदर्श संख्या[2] डालता है और शेष के सम्बन्ध में लिख दिया जाता है कि उन्हें साबित करना है। बहुधा पक्षकार सहमत हो जाते हैं कि एक-दूसरे को अपनी-अपनी दस्तावेजें प्ररूपी तौर पर साबित करने से अभिमुक्ति[3] दे दें। इस आशय का संयुक्त बयान न्यायालय लिख लेता है और इस प्रकार सभी दस्तावेजों पर प्रदर्श डाल दिया जाता है। प्रश्न उठता है कि दस्तावेजों को प्ररूपी तौर पर साबित करने से इस अभिमुक्ति का विधिक प्रभाव क्या होता है। इस प्रश्न पर मद्रास उच्च न्यायालय के **करुप्पा बनाम राजागोपाल**–आ. इं. रि. 1975 मद्रास 257 वाले निर्णय के कुछ उपयोगी उद्धरण हम नीचे देते हैं, जिसका हाल में अनुसरण **ए. बी. एस. पेरुमल बनाम बाबोवेलू असरी**-आ. इं. रि. 1986 मद्रास 341 में किया गया।

"प्रत्यर्थियों के विद्वान् अधिवक्ता ने इस तथ्य का आश्रय लिया कि यह दस्तावेज परस्पर सम्मति से 14 फरवरी, 1986 को प्रदर्शांकित की गयी। विद्वान् अधिवक्ता ने विधि की प्रस्थापना के तौर पर यह निवेदन किया कि जब किसी दस्तावेज को परस्पर सम्मति से प्रदर्शांकित कर दिया जाये तो यह तो है ही कि फिर उस दस्तावेज को प्ररूपी तौर पर साबित करने की आवश्यकता नहीं रह जाती, अपितु यह भी है कि उससे वह सारी बात साबित हो जाती है,

---

1. Settlement of issues.
2. Exhibit number.
3. Dispensing with formal proof.

जो उस दस्तावेज में दी होती है। इस तर्क के समर्थन में विद्वान् अधिवक्ता ने उच्चतम न्यायालय द्वारा **पी. सी पुरुषोत्तम बनाम पेरुमल**–आ. इं. रि. 1972 सु. को. 608 में दिये गये निर्णय का आश्रय लिया। उस मामले में इस प्रश्न पर विवाद था कि क्या उस मामले के प्रत्यर्थी ने निर्वाचन अर्जी के मामले में अपने प्रतिशपथपत्र में स्वीकार की गई चार निर्वाचन सभाएँ की। पाया यह गया कि पाण्डिचेरी में परिपाटी यह थी कि जो व्यक्ति भी ऐसी सभा करना चाहे उसे सभा करने की इजाजत के लिए पुलिस निरीक्षक को आवेदन देना होगा, जिसमें सभा की तारीख, स्थान और समय का उल्लेख होगा। जिस असफल अभ्यर्थी ने निर्वाचन अर्जी दाखिल की उसने प्रत्यर्थी के चार आवेदनों पर प्रदर्शांकन कराया, जो सभा करने की इजाजत दिए जाने के लिए थे और जिनपर उसे इजाजत देने का पुलिस निरीक्षक का आदेश भी था। पुलिस निरीक्षक का साक्षी के रूप में बयान कराया गया और उसने वे आवेदन दिये जाने तथा स्वयं उसके द्वारा इजाजत दिए जाने की बात कही। उसने यह भी कहा कि जब वह ऐसी इजाजत देता था तो वह एक हेड कांस्टेबिल उस सभा को देखने तथा उस बाबत रिपोर्ट देने के लिऐ नियुक्त करता था। चारों सभाओं के संबन्ध में हेड कांस्टेबिल से प्राप्त रिपोर्टें पुलिस निरीक्षक के माध्यम से साक्ष्य के रूप में फाइल की गई। उच्चतम न्यायालय ने इन रिपोर्टों का आश्रय उन विशिष्ट दिनों पर सभायें किए जाने के साक्ष्य के रूप में लिया। उच्चतम न्यायालय में बहस की गयी कि हेड कांस्टेबिल की रिपोर्ट साक्ष्य में अग्राह्य है क्योंकि उन सभाओं में जाने वाले हेड कांस्टेबिल का बयान नहीं कराया गया। उच्चतम न्यायालय ने कहा कि रिपोर्टें पक्षकारों की सम्मति से प्रदर्शांकित की गयी हैं, अतः प्रत्यर्थी को यह अनुमत नहीं है कि उनकी ग्राह्यता के विषय में आपत्ति करे। इस तर्क के सम्बन्ध में कि यद्यपि प्रस्तुत रिपोर्टें सम्मति के कारण ग्राह्य है किन्तु न्यायालय उन दस्तावेजों की अन्तर्वस्तु नहीं देख सकता, उच्चतम न्यायालय ने कहा कि दस्तावेज एक बार उचित तौर पर स्वीकार कर लिए जाने पर उस दस्तावेज की अन्तर्वस्तु भी स्वीकार हो जाती है, यद्यपि वह अन्तर्वस्तु निश्चायक साक्ष्य नहीं होगी। उस मामले के तथ्यों से स्पष्ट होगा कि जहां तक हेड कांस्टेबिल की रिपोर्ट का प्रश्न था, स्वयं पुलिस निरीक्षक ने यह बात कही कि उसने हेड कांस्टेबिल को तैनात किया था कि सभाओं को देखे और उनके बारे में रिपोर्ट दे। उसने हेड कांस्टेबिल द्वारा उसे प्रस्तुत की गई मूल रिपोर्टें पेश कीं। निरीक्षक ने यह बात भी कही कि उन रिपोर्टों से प्रकट होता है कि दी गई इजाजत के अनुसार सभाएँ हुई। यह ध्यान देने योग्य है कि केवल सभा होने के

तथ्य के सम्बन्ध में उच्चतम न्यायालय ने उन रिपोर्टों का आश्रय लिया, न कि किन्हीं अन्य बयानों की बाबत कि सभाओं में क्या हुआ, या उनमें क्या कहा गया। क्योंकि रिपोर्टें उसी निरीक्षक के माध्यम से दाखिल कराई गयी जिसके आदेश के आधार पर हेड कांस्टेबिल सभा में गया अतः उच्चतम न्यायालय ने यह विचार किया कि वे उन तारीखों पर सभाएं होना साबित करने के लिए ग्राह्य होंगी। उसमें भी उच्चतम न्यायालय ने तुरन्त यह और जोड़ दिया कि वे अन्तर्वस्तु की निश्चायक सबूत नहीं होंगी (पैरा 5) ।...

पक्षकार द्वारा दस्तावेज को प्रदर्शांकित करने के लिए सम्मति दिए जाने से दस्तावेज की अन्तर्वस्तु साबित करने से मुक्ति नहीं हो जाती; और न उस अन्तर्वस्तु की सत्यता या असत्यता साबित करने से छुट्टी होती है। इस संबंध में हम इस न्यायालय के खण्ड न्यायपीठ के निर्णय का उल्लेख करें जो **पलनियप्पा चेट्टियर बनाम बाम्बे लाइफ एश्योरेंस** कम्पनी लि.–आ.इ.रि. 1948 मद्रास 298 में प्रकाशित हुआ है। उसमें दस्तावेज सम्मति से प्रदर्शांकित करने के प्रभाव पर विचार किया गया। वह बीमा कम्पनी के विरुद्ध एक ऐसे वाद में अपील थी जो बीमाकृत व्यक्ति की मृत्यु पर बीमा राशि की अदायगी के लिए था। बीमा कम्पनी ने जो दस्तावेज पेश किए, उनमें से एक मृतक की मृत्यु के समय उसकी परिचर्या करने वाले डॉक्टर द्वारा दी गई रिपोर्ट है और दूसरी में बीमा कम्पनी द्वारा भेजी गई प्रश्नावली पर उसी डॉक्टर द्वारा दिए गए उत्तर हैं। इन दो दस्तावेजों में कुछ सामग्री बीमाकृत व्यक्ति की ऐसी बीमारियों के विषय में है जो ऐसी है कि यदि वह पालिसी जारी किए जाने के समय वे प्रकट की जाती तो कम्पनी प्रस्थापना[1] को ही स्वीकार न करती। इन दोनों दस्तावेजों पर प्रदर्श परस्पर सम्मति से डाला गया था। प्रमाणपत्र जारी करने वाले डॉक्टर का बयान नहीं कराया गया। विचारार्थ प्रश्न यह था कि क्या कम्पनी दस्तावेज की अन्तर्वस्तु का आश्रय वादी के विरुद्ध ले सकती है। इस न्यायालय ने निर्णय किया कि किसी दस्तावेज को परस्पर सम्मति से प्रदर्शांकित करने का तात्पर्य इतना ही है कि सम्मति देने वाला पक्षकार अपने इस अधिकार को छोड़ने के लिए तैयार है कि प्रश्नगत दस्तावेज को साबित कराए, अर्थात् वादी यह स्वीकार करने को तैयार था कि दस्तावेजें वही थीं जैसी कि वे प्रकट होती थीं, अर्थात् एक तो डाक्टर द्वारा दिया गया प्रमाणपत्र था जो प्रतिवादी को भेजा गया था तथा दूसरी

---

1. Proposal.

में कम्पनी द्वारा भेजी गई प्रश्नावली के डॉक्टर द्वारा दिए गए उत्तर थे। किन्तु दस्तावेजों पर प्रदर्शांकन का यह अर्थ नहीं है कि वादी ने उन सब बातों की सत्यता स्वीकार कर ली जो डॉक्टर ने उन दस्तावेजों में कही थीं। डॉक्टर द्वारा दिए गए प्रमाणपत्र में तथा उसके द्वारा दिए गए उत्तरों में कही गई बातों का सत्य होना साक्ष्य अधिनियम की व्यवस्था के अनुसार मान्य ढंग से साबित करना होगा। हम विद्वान् न्यायाधीशों के इस मत से सादर एवं पूर्णतः सहमत हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि दस्तावेजों को औपचारिक रूप से साबित करने का प्रभाव वह नहीं होता जो दस्तावेज को स्वीकार कर लेने का होता है। उक्त अभिमुक्ति का प्रभाव यह होगा कि दस्तावेज औपचारिक सबूत के बिना प्रदर्शांकित हो जाएगा। किन्तु सबूत की दृष्टि से उसकी स्थिति वही होगी जो उसे औपचारिक रूप से साबित करने मात्र पर होती।

—: 0 :—

सन्दिग्धनेत्र्यशुद्धिः स्यात्
स्वहस्तलिखितादिभिः।
युक्तिप्राप्तिक्रियाचिह्न-
सम्बन्धागमहेतुभिः॥

— याज्ञ. 2–92॥

यदि किसी दस्तावेज की वास्तविकता के विषय में संदेह हो तो उसका विनिश्चय इस प्रकार किया जा सकता है: (क) संबंधित पक्षकार के स्वीकृत लेख से मिला कर; (ख) सम्भावनाओं के आधार पर; (ग) साक्षियों के बयान से; (घ) दस्तावेज के विशिष्ट चिह्नों के आधार पर; (ङ) पक्षकारों के तब के पारस्परिक सम्बन्धों के आधार पर; (च) कारण और निष्कर्ष के आधार पर।

—: 0 :—

एकतरफा निर्णित वादों का पुनः स्थापन

(संकलित)

कोई वाद, अनेक परिस्थितियों में, पक्षकार की चूक के कारण खारिज या एकतरफा डिक्री किया जा सकता है :

(क) वादी के आदेशिका फीस[1] या न्यायालय फीस[2] आदि न देने पर, अथवा प्रतिवादी को समन के साथ भेजी जाने के लिए वादपत्र की प्रति दाखिल न करने पर (आदेश 9, नियम 2 सि.प्र.सं.);

(ख) सुनवाई की तारीख को दोनों पक्षकारों के अनुपस्थित होने पर (आदेश 9, नियम 3 सि.प्र.सं.)।

इन दो दशाओं में वाद वादी के आवेदन पर प्रत्यावर्तित अर्थात् पुनः स्थापित[3] किया जा सकता है और यह भी आवश्यक नहीं है कि वाद को पुनः स्थापित करने के पूर्व प्रतिवादी को कारण बताने का नोटिस जारी किया जाए किन्तु जब वाद आदेश 9, नियम 3 के अधीन खारिज किया जाए और उसे आदेश 9, नियम 4 के अधीन पुनः स्थापित किया जाए तो प्रतिवादी को वाद पुनः स्थापित किए जाने के बाद सुनवाई की तारीख का नोटिस दिया जाना चाहिए; हाँ, यदि प्रतिवादी का कोई वकील पहले से हो तो प्रतिवादी को सीधे नोटिस भेजना आवश्यक नहीं होगा, बल्कि पुनः स्थापन के बाद लगाई गई पहली तारीख की सूचना उस वकील को दे देना पर्याप्त होगा।

(ग) जब समन तामील हुए बिना वापस हो जाए और वादी न्यायालय में समनों की वापसी से एक मास के भीतर या उस अतिरिक्त समय के भीतर जो न्यायालय दे, नए समन जारी कराने के लिए आवेदन न दे (आदेश 9, नियम 5 [1])।

ऐसे मामलों में वादी परिसीमा विधि के अधीन रहते हुए नया वाद ला सकता है (आदेश 9, नियम 5 [2])।

(घ) जब सुनवाई की तारीख को वादी तो उपस्थित हो और प्रतिवादी यथासमय तामील के बाद भी अनुपस्थित हो (आदेश 9, नियम 6 [1] [क])

---

1. Procdss fee. 2. Court fee. 3.Restored.

ऐसी दशा मे वाद या तो उसी दिन एकतरफा डिक्री किया जा सकता है या यह आदेश किया जा सकता है कि वाद आदेश में विनिर्दिष्ट तारीख को एकतरफा चलेगा। यदि वाद उस दिन एकतरफा डिक्री कर दिया जाए तो प्रति वादी के पर्याप्त कारण प्रकट करने पर डिक्री उसके आदेश 9, नियम 13 के अधीन आवेदन पर ऐसी शर्तों पर रद्द की जा सकती है जो न्यायालय ठीक समझे यदि केवल यह आदेश दिया जाए कि वाद अमुक तारीख को एकतरफा चलेगा तो प्रतिवादी नियत तारीख को या उसके पहले अथवा डिक्री किए जाने के पूर्व कभी भी उपस्थित हो सकता है। ऐसी दशा में उसे आदेश 9, नियम 7 के अधीन ऐसी शर्तों पर, जो न्यायालय विनिर्दिष्ट करे सुना जा सकता है।

जब न्यायालय आदेश 9, नियम 7 के अनुसार कार्यवाही पुनः प्रारम्भ न करें, अर्थात् जब वह कार्यवाही एकतरफा चलाने का आदेश वापस नहीं लेता, तब भी प्रतिवादी उस कार्यवाही में उस प्रक्रम से भाग ले सकता है जिस पर कि कार्यवाही उसके न्यायालय में आने के समय चल रही हो। दूसरे शब्दों में, यदि वादी का साक्ष्य पूरा हो गया हो और बहस सुनी जा रही हो तो उसे वादी के साक्षियों को प्रति परीक्षा के लिए बुलाने का अधिकार तब तक नहीं होगा जब तक कि उसके पक्ष में आदेश 9, नियम 7 के अधीन आदेश न हो जाए। किन्तु ऐसा आदेश न होने पर भी वह वादी के मामले के गुणागुण पर अधिकारतः[1] बहस कर सकता है। इस प्रकार, वह दिखा सकता है कि वादी के साक्षियों के बयान विश्वसनीय नहीं हैं, यद्यपि न उनकी प्रतिपरीक्षा हुई है और न उनके खण्डन में प्रतिवादी का साक्ष्य आया है। अथवा वह यह दिखा सकता है कि वादी के साक्षियों को सत्यवादी मान लेने पर भी वादी के पक्ष में मामला नहीं बनता। यदि वादी के अधिवक्ता की बहस प्रारम्भ न हुई हो और प्रतिवादी और उसके साक्षी मौजूद हों तो प्रतिवादी यह भी कह सकता है कि उसके साक्षियों के बयान ले लिए जाएं। उस दशा में उसके लिए एक-मात्र कठिनाई यह होगी कि उसे वादी के साक्षियों की प्रतिपरीक्षा का अवसर नहीं मिलेगा।

(ङ) यदि प्रतिवादी उपस्थित न हो और साथ ही न्यायालय का यह भी समाधान न हो कि उस पर समन की तामील हो गई है, अथवा न्यायालय यह माने कि समन की प्रतिवादी पर तामील तो हो गई है, पर उतने पर्याप्त समय से नहीं हुई कि वह नियत तारीख को उपस्थित होकर उत्तर दे सकना तो न्याया-

1. As of right.

सब मामले का एकतरफा निर्णय करने के लिए अवसर न होकर, यथास्थिति, आदेश 9, नियम 6(1)(ख) या (ग) के अनुसार कार्यवाही करेगा।

(ख) यदि वादी अनुपस्थित हो और प्रतिवादी उपस्थित हो तो (जहां तक वाद का विरोध किया गया है वहां तक) दावा खारिज कर दिया जाएगा [आदेश 9, नियम 8]। पर्याप्त कारण दिखाए जाने पर वह आदेश 9, नियम 9 के अधीन पुनःस्थापित किया जा सकता है।

नियम 10, 11, और 12 कुछ अन्य स्थितियों के विषय में हैं।

इस सम्बन्ध में आदेश 17, नियम 1, 2 व 3 का भी अध्ययन आवश्यक है। यह स्मरणीय है कि पहले नियम 2 में उत्तर प्रदेश में एक स्पष्टीकरण जोड़ दिया गया था और एक अन्य संशोधन द्वारा नियम 3 में यह व्यवस्था कर दी गई थी कि यह तभी लागू होगा जब नियम 2 लागू न हो। 1976 के केन्द्रीय संशोधन द्वारा उत्तर प्रदेश वाला संशोधन नियम 2 में स्वतः जोड़ दिया गया है और नियम 3 में भी संशोधन कर दिया गया है। अतः इन दोनों नियमों के विषय में यह ध्यान रहना चाहिए कि 1976 से स्थिति भिन्न हो गई है और अब संशोधन पूर्व के निर्णयों से मार्गदर्शित न होकर इन नियमों की वर्तमान शब्दावली के अनुसार कार्य करना चाहिए।

नियम 1 पक्षकार को समय देने और वाद की सुनवाई स्थगित करने के सम्बन्ध में है। इस नियम में 1976 के संशोधन द्वारा जोड़े गये परन्तुक को सावधानी से पढ़ना चाहिये। नियम 2 यह उपबन्ध करता है कि जब उस दिन, जिसके लिये वाद की सुनाई स्थगित की गई हो, सब पक्षकार या उनमें से कोई उपस्थित न हो तो न्यायालय उस वाद में आगे कार्यवाही आदेश 9 में उस निमित्त बताये गये ढंगों में से किसी ढंग से कर सकता है या कोई अन्य ऐसा आदेश दे सकता है जो वह उचित समझे। उसका स्पष्टीकरण भी दृष्टव्य है। नियम 3 आगे कहता है कि जब किसी पक्षकार को समय दिया गया हो और फिर वह अपना साक्ष्य पेश न करे, या अपने साक्षी हाजिर न करे या वाद की आगे प्रगति के लिये आवश्यक अन्य कार्य न करे जिसके लिये समय दिया गया था तो न्यायालय ऐसी चूक के बावजूद इस प्रकार कार्यवाही कर सकेगा :—

(i) यदि पक्षकार उपस्थित हों तो वह वाद का तत्काल निर्णय करने को अग्रसर हो सकेगा।

(ii) यदि सभी पक्षकार या उनमें से कोई अनुपस्थित हो तो नियम 2 के अधीन कार्यवाही कर सकेगा।

नियम 3 के उपबन्धों से पहले बहुत कठिनाई होती थी। उसके स्थान पर जो नियम 1976 में रखा गया उसने कानूनी स्थिति को सरल बना दिया है। उच्चतम न्यायालय ने हाल ही में **प्रकाश चन्द्र मनचन्दा बनाम जानकी मनचन्दा**- (1986) 4 सु. को. के. 699 (1987 उम.नि.सा. 1) में इस नए नियम की चर्चा की हैं। उसके सुसंगत तथ्य व उद्धरण नीचे दिये जाते हैं।

तथ्य :- इस मामले को निपटाने के लिये आवश्यक तथ्य इस प्रकार है : वर्तमान अपीलार्थी के विरुद्ध दिल्ली के प्रथम वर्ग न्यायाधीश के न्यायालय में फाइल किये गये वाद में वादी का साक्ष्य समाप्त होने पर वर्तमान अपीलार्थी (प्रतिवादी) का साक्ष्य 24 जनवरी, 1985 को प्रारम्भ होना था। तब प्रतिवादी का कोई साक्षी उपस्थित नहीं था और उसके अधिवक्ता के अनुरोध पर मुकदमा 7 मई, 1985 के लिये स्थगित कर दिया गया। उस तारीख को किसी कारण से मुकदमा दूसरे न्यायालय को भेज दिया गया और तदनुसार पक्षकारों के अधिवक्ता उक्त दूसरे न्यायालय में उपस्थित हुये। क्योंकि मुकदमा अंतरित होकर आया था अतः उसके 21 अगस्त, 1985 को पेश किये जाने का आदेश दिया गया।

21 अगस्त, 1985 को छुट्टी थी। अतः मामला विद्वान न्यायाधीश के समक्ष 22 अगस्त, 1985 को रखा गया और उस दिन प्रतिवादी के साक्षियों के लिये तारीख 30 अक्तूबर 1985 लगा दी गई। आदेशपत्र से प्रकट होता है कि उस दिन, अर्थात् 30 अक्तूबर, 1985 को, वादी के अधिवक्ता तो उपस्थित थे, किन्तु प्रतिवादी की ओर से कोई भी उपस्थित नही हुआ। अतः न्यायालय ने निदेश दिया कि मुकदमा एक बजे लिया जायेगा। एक बजे भी स्थिति वही रही। प्रतिवादी का कोई साक्षी भी उपस्थित नहीं था। अतः न्यायालय ने यह आदेश दिया-"मुकदमा पुकारा गया, किन्तु प्रतिवादी की ओर से कोई उपस्थित नहीं हुआ; न प्रतिवादी का कोई साक्षी उपस्थित है। प्रतिवादी का साक्ष्य समाप्त हुआ। अब मुकदमे में बहस सुनी जायगी।" अगली तारीख 1 नवम्बर, 1985 लगाई गई। उस तारीख को भी प्रतिवादी की ओर से कोई उपस्थित नहीं हुआ, किन्तु वादी के अधिवक्ता ने उपस्थित होकर तारीख मांगी और मुकदमा 8 नवम्बर, 1985 के लिये स्थगित कर दिया गया। उस तारीख को वादी के अधिवक्ता की बहस सुनी गई। क्योंकि प्रतिवादी की ओर से कोई उपस्थित नहीं था, अतः अतः मुकदमे में निर्णय के लिये तारीख 11 नवम्बर, 1985 लगा दी गई। उस तारीख को भी वादी के अधिवक्ता उपस्थित थे, किन्तु प्रति-

वादी की ओर से कोई उपस्थित नहीं था; और आदेशपत्र से प्रकट होता है कि क्योंकि निर्णय तैयार नहीं था, अतः उसके लिये तारीख 21 नवम्बर, 1985 लगा दी गई। 21 नवम्बर को निर्णय बोलकर सुना दिया गया और विद्वान् न्यायाधीश ने आदेश दिया कि डिक्री तैयार की जाये। प्रतीत यह होता है कि तत्पश्चात प्रतिवादी ने यह कहा कि उसे डिक्री का पता 18 जनवरी, 1986 को लगा जबकि वादी कब्जा लेने आया। अतः उसने एकतरफा डिक्री रद्द करने के लिये आदेश 9, नियम 13 के अधीन आवेदन दिया।

उच्चतम न्यायालय का निर्णय.—यह स्पष्ट है कि जब कोई पक्षकार अनुपस्थित हो तो आदेश 17, नियम 3 (ख) में दी गई व्यवस्था के अनुसार एकमात्र मार्ग नियम 2 के अधीन कार्यवाही करने का होता है। अतः यह स्पष्ट है कि प्रतिवादी की अनुपस्थिति में न्यायालय को नियम 2 के अधीन कार्यवाही करने के अलावा कोई विकल्प नहीं था। इसी प्रकार से उस आदेश का वर्तमान नियम 2 स्पष्ट व्यवस्था करता है कि यदि कोई पक्षकार उपस्थित न हो तो न्यायालय को आदेश 9 में निर्दिष्ट ढंगों में से किसी से वाद का निपटारा करने के लिए अग्रसर होना होगा। नियम 2 का स्पष्टीकरण न्यायालय को यह विवेकाधिकार प्रदान करता है कि नियम 3 के अधीन वह कार्यवाही करे, भले ही पक्षकार अनुपस्थित हो। किन्तु यह विवेकाधिकार केवल उन मामलों तक सीमित है जिनमें अनुपस्थित रहने वाले पक्षकार ने अपना पूरा साक्ष्य या उसका पर्याप्त अंश दे दिया हो। अतः यह स्पष्ट है कि यदि नियत तारीख को कोई पक्षकार अनुपस्थित रहे और उस पक्षकार के किसी साक्षी का बयान उस तारीख तक न हुआ हो तो न्यायालय को इसके अलावा कोई विकल्प नहीं होगा कि मामले का निर्णय आदेश 17 के नियम 2 के अनुसार सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 9 में विहित किसी ढंग से करने को अग्रसर[1] हो। यह स्पष्ट है कि सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 17 के नियम 2 और 3 में इस संशोधन के बाद कोई सन्देह नहीं बचता। अतः कोई विवाद भी सम्भव नही है। यह स्पष्ट है कि जब प्रस्तुत मामले में 30 अक्तूबर, 1985 को मुकदमा बुलाया गया तो प्रतिवादी की ओर से कोई उपस्थित नहीं हुआ। यह भी स्पष्ट है कि उस तारीख तक वादी का साक्ष्य तो लिख लिया गया था, किन्तु प्रतिवादी का साक्ष्य नहीं लिखा गया था। प्रतिवादी को अथवा स्वगनपूर्व को पूर्ववर्ती तारीख को अपना साक्ष्य प्रारम्भ करना था। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 30 अक्तूबर, 1985 तक, जब कि विचारण न्यायालय ने

1. Proceed.

प्रतिवादी के मामले को समाप्त किया, प्रतिवादी का कोई साक्ष्य लेखबद्ध नहीं हुआ था। इस दृष्टि से आदेश 17, 2 का स्पष्टीकरण बिल्कुल लागू नहीं होता था। जब प्रतिवादी अनुपस्थित था तो आदेश 17, नियम 2 न्यायालय को केवल इस बात की अनुज्ञा देता था कि निपटारा आदेश 9 में दिए गए किसी ढंग से करने को अग्रसर हो।

यह भी स्पष्ट है कि इस समय यथाविद्यमान आदेश 17, नियम 3 इस मामले के तथ्यों को लागू नहीं होता था क्योंकि जिस तारीख को प्रतिवादी का साक्ष्य न्यायालय द्वारा समाप्त किया गया उस दिन निर्विवाद रूप से प्रतिवादी की ओर से कोई उपस्थिति नहीं हुआ। इस दृष्टि से इस विषय में विवाद नहीं हो सकता कि न्यायालय ने गुणागुण के आधार पर वाद का निर्णय करने को अग्रसर होकर भूल की।

[तदनुसार आदेश 9, नियम 13 के अधीन आवेदन ग्राह्य माना गया, किन्तु उस आवेदन के परिसीमा-वर्जित होने का प्रश्न विचारण न्यायालय पर छोड़ दिया गया।]

[यहाँ यह बताना भी उपयुक्त होगा कि आदेश 17 के नियम 1, 2 व 3 से कुछ स्थानीय संशोधन इलाहाबाद उच्च न्यायालय द्वारा सन् 1926, 1943 व 1953 में किए गए थे। वे सभी 1976 के केन्द्रीय अधिनियम द्वारा किए गए संशोधनों के परिप्रेक्ष्य में अधिक्रान्त[1] माने जाएंगे। अतएव उन पर ध्यान देना अनावश्यक है तथा उनके आधार पर दिए गए निर्णय भी अब लागू न होंगे।]

---

1 Superseded.

प्रथम इत्तिला रिपोर्ट

-डा० मोती बाबू

(उ.नि.सा. = उच्चतम न्यायालय निर्णय-सार। सु.को. = आल इण्डिया रिपोर्टर-सुप्रीम कोर्ट)

अपराध हो जाने पर पुलिस द्वारा कार्यवाई किए जाने की दृष्टि से उसे जो सूचना पहली बार दी जाती है उसे प्रथम इत्तिला रिपोर्ट (F.I.R.) कहते हैं। इत्तिला देने वाले का उद्देश्य यह होता है कि पुलिस अन्वेषण की कार्यवाई करे, अभियुक्तों को पकड़े, आदि।[1] पुलिस की दृष्टि से उसका उद्देश्य होता है कि उसे अन्वेषण के लिए उचित आधार और दिशा मिल जाए। दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 154 व 155 में उसके सम्बन्ध में प्रक्रिया दी गई है। इनमें "प्रथम इत्तिला रिपोर्ट" पद का प्रयोग न करके केवल "इत्तिला" शब्द का प्रयोग किया गया है। किन्तु इत्तिलाएं तो अनेक प्रकार की हो सकती हैं। अतः इस प्रथम रिपोर्ट के लिए "प्रथम इत्तिला रिपोर्ट" पद सारे विधि जगत में रूढ़ हो गया है। धारा 154 संज्ञेय (cognizable) अपराधों के विषय में है और धारा 155 असंज्ञेय (non-cognizable) अपराधों के विषय में। हमारा यहां सम्बन्ध मुख्यतः संज्ञेय अपराधों से है।

प्रथम इत्तिला रिपोर्ट कोई भी व्यक्ति लिखा सकता है, चाहे वह अपराध से पीड़ित हो या न हो और चाहे उसने अपराध होते देखा हो या नहीं।[2] यह दूसरी बात है कि प्रथम इत्तिला रिपोर्ट का महत्त्व लिखाने वाले के महत्त्व के अनुसार न्यूनाधिक हो सकता है। उदाहरणार्थ, स्वयं पीड़ित या प्रत्यक्षदर्शी व्यक्ति द्वारा लिखाई गई रिपोर्ट का महत्त्व असंबद्ध व्यक्ति द्वारा सुनी-सुनाई बात के आधार पर लिखाई गई रिपोर्ट से कहीं अधिक होगा।

रिपोर्ट लिखित रूप में भी की जा सकती है और जबानी भी। किन्तु जबानी किए जाने पर यह आवश्यक है कि उसे लिखकर रिपोर्ट करने वाले के हस्ताक्षर या उसके अंगूठे का निशान करा लिया जाए। जब थाने पर रिपोर्ट की जाती है तो धारा 154 द.प्र.सं. के अनुसार उसे एक फार्म पर लिखा जाता है। उसे "चिक रिपोर्ट" या "चिक" कहते हैं। उसकी एक प्रति रिपोर्ट लिखाने वाले को दे

---

1. हुसैन बनाम बिहार राज्य–1972 सु.को. 283 (286);
2. अपरेल ओवक बनाम केरल राज्य–1973 सु.को. 1;

दी जाती है, एक थाने में रहती है तथा एक सम्बन्धित मजिस्ट्रेट को भेज दी जाती है। साथ ही जनरल डायरी में भी उसका संक्षेप देते हुए उसकी आवश्यक प्रविष्टि कर ली जाती है। और तब पुलिस द्वारा अन्वेषण प्रारम्भ हो तो जाता है। यदि अपराध अधिक गम्भीर होता है तो पुलिस अधीक्षक को एक विशेष रिपर्ट (special report) भी भेजी जाती है।

प्रथम इत्तिला रिपोर्ट लिखे जाने के बाद के बयान धारा 162 दं.प्र.सं. द्वारा प्रायः साक्ष्य से बहिष्कृत से हो जाते हैं। अतः इस विषय में बहुधा विवाद होता है कि किस इत्तिला को प्रथम इत्तिला रिपोर्ट माना जाए। उसके लिए सिद्धांत यह कि समय की दृष्टि से पहली होना ही पर्याप्त नहीं है; रिपोर्ट इस प्रकार की होनी चाहिए कि उसके आधार पर पुलिस अन्वेषण के लिए अग्रसर हो सके। किसी व्यक्ति का फोन पर यह कह देना कि अमुक स्थान पर गोली चल गई है, प्रथम इत्तिला रिपोर्ट नहीं माना जाएगा, भले ही उस बाबत डायरी में प्रविष्टि करके पुलिस अधिकारी घटना-स्थल पर पहुंच जाए।[1] इसी प्रकार से जब एक व्यक्ति ने पुलिस चौकी पर जाकर घटना बताई तथा चौकी के अधिकारी ने थाने से फोन पर बात बनाकर अनुदेश प्राप्त करने के बाद वह इत्तिला दर्ज की तो दर्ज की गई रिपोर्ट ही प्रथम इत्तिला रिपोर्ट मानी गई, न कि चौकी से थाने को बताई गई बात।[2]

प्रथम इत्तिला रिपोर्ट का विशेष महत्त्व इस कारण होता है कि वह घटना के बाद शीघ्र लिखाई जाती है और सामान्य क्रम में यह आशा की जाती है कि शीघ्र लिखाई जाने के कारण उसमें घटना का यथार्थ वर्णन आ गया होगा तथा जोड़-तोड़ का अवसर न मिला होगा। अतः यदि रिपोर्ट शीघ्र लिखा दी जाती है तो रिपोर्ट करने वाले की विश्वसनीयता बढ़ जाती है।[3] और विलम्ब से लिखाई गई रिपोर्ट का महत्त्व प्रायः घट जाता है। ऐसा भी होता है रिपोर्ट का महत्त्व बढ़ाने की दृष्टि से उस पर समय वस्तुतः लिखाये जाने के समय से पहले का डाल दिया जाता है जिससे कि प्रकट हो वह घटना के तुरन्त बाद लिखा दी

---

1. उत्तर प्रदेश राज्य बनाम पी.ए. मधु–1984 उम.नि.सा. 441 (2); 1984; सु.को. 1523; तरीन्द्र सिंह बनाम पंजाब राज्य–1970 सु.को. 1556;
2. सोमाभाई बनाम गुजरात राज्य–1975 सु.को. 1 53 (1464);
3. पंजाब राज्य बनाम बासन सिंह –1981 उम. नि. सा. 33 : 1981 सु. को 697; अपरेन जोसफ बनाम केरल राज्य–1923 सु. को. 1;

गई। समय पहले का डाला गया या नहीं इसका पता परिस्थितियों से लग सकता है, जैसे कि रिपोर्ट की प्रति मजिस्ट्रेट के पास कब भेजी गई व उन्हें कब मिली ? क्या कोई विशेष रिपोर्ट भेजी गई और यदि भेजी गई तो कब ? घायल व्यक्ति को या शव कब अस्पताल भेजा गया और वह कब पहुंचा ? अन्वेषण अधिकारी (I.O.) ने रिपोर्ट के बाद कब क्या कार्यवाही की ? आदि-आदि। यह स्पष्ट ही है कि संदेह का लाभ अभियुक्त को मिलेगा। अतः जब साबित न भी हो किन्तु इस बात का उचित संदेह हो कि रिपोर्ट वस्तुतः बाद में लिखाई गई तो निष्कर्ष अभियुक्त के पक्ष में होगा, अर्थात् यह मानकर चला जायेगा कि रिपोर्ट बाद में ही लिखाई गई।

विलम्ब के आक्षेप के सम्बन्ध में अनेक बातों की ओर ध्यान देना होगा। पहले तो यह कि क्या उस विलम्ब का उचित स्पष्टीकरण है ? उचित स्पष्टीकरण होने पर विलम्ब घातक नहीं माना जाएगा। उदाहरणार्थ यदि पति और श्वसुर की नृशंस हत्या के बाद पत्नी रात में थाने जाने का साहस न जुटा पाये तो कोई अस्वाभाविक बात न होगी और यह स्पष्टीकरण परिस्थितियों के अनुसार मान्य होगा।[1] इसी प्रकार, यदि व्यक्ति गम्भीर रूप से घायल है और थाने जाने के पहले उसे अस्पताल ले जाया जाता है और तत्पश्चात् रिपोर्ट लिखाई जाती है या अस्पताल से थाने सूचना भेजी जाने पर पुलिस के अस्पताल आने पर रिपोर्ट लिखाई जाती है[2] तो अविश्वास की कोई बात न होगी। वैसे भी घायल व्यक्ति के उपचार की प्राथमिक अनिवार्यता के कारण कुछ विलम्ब हो जाना स्वाभाविक है।[3]

कुछ अपराध ऐसे होते हैं जिनकी रिपोर्ट करने में हिचकिचाहट होती है, जैसे कि बलात्संग (rape) का अपराध। ऐसे अपराध के एक मामले में दस दिन तक का विलम्ब क्षम्य माना गया।[4] बहुत से अपराध ऐसे होते हैं जिनके विषय में स्थिति कुछ समय बाद ही स्पष्ट होती है या घर वाले रिपोर्ट लिखाकर बदनामी कराने के पहले कुछ प्रारम्भिक प्रयत्न करते हैं, जैसे कि किसी लड़की

---

1. बाबू लोधी बनाम उत्तर प्रदेश राज्य- 1987 उम. नि. सा. 235 : 1987 सु. को. 1267;
2. कृष्ण पिल्लई श्री कुमार बनाम केरल राज्य- 1981 उम. नि. सा. 139 : 1981 सु. को. 1237;
3. पट्टीपति वेंकय्या बनाम आन्ध्र प्रदेश राज्य- 1985 उम. नि. सा. 479 : 1985 सु. को. 1715;
4. हरपाल सिंह बनाम हिमाचल प्रदेश राज्य- 1981 सु. को. 361;

को भगाने का अपराध। अतः विलम्ब होने के कारण ही रिपोर्ट अमान्य नहीं हो जायेगी। सबसे पहले हमें विलम्ब का कारण देखना होगा। यदि उचित स्पष्टीकरण हो तब तो बात वहीं समाप्त हो जाती है; अन्यथा यह भी देखना होगा कि क्या विलम्ब के कारण रिपोर्ट में जोड़-तोड़ या मिलावट होने का निष्कर्ष निकाला जा सकता है।

इसके अतिरिक्त जब अन्य विश्वसनीय साक्ष्य हो तो अभियोजन कथानक (Prosecution story) को केवल इस कारण अमान्य नहीं किया जा सकता कि प्रथम इत्तिला रिपोर्ट लिखाने में विलम्ब हुआ। जब विधि में यही आवश्यक नहीं है कि प्रथम इत्तिला रिपोर्ट लिखाई जाय[1] और ऐसी रिपोर्ट के बिना भी परिवाद (complaint) किया जा सकता है तो प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में विलम्ब के आधार पर ही अभियोजन कथानक को अमान्य नहीं किया जा सकता। निर्णय सभी परिस्थितियों तथा अन्य साक्ष्य को देखकर करना होगा।

बहुधा यह बहस की जाती है कि अमुक बात का विश्वास नहीं किया जाना चाहिए क्योंकि उसका उल्लेख प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में नहीं है। इस संबंध में यह ध्यान रखने योग्य है कि प्रथम इत्तिला रिपोर्ट लिखाने वाला व्यक्ति बहुधा अशिक्षित या अल्पशिक्षित होता है। वह प्रायः अपराध से व्यथित और आतंकित होता है; और अनेक बार अपराध-जन्य समस्याओं से भी ग्रस्त होता है। थाने में जहां वह रिपोर्ट लिखाता है वहां उसे प्रायः कोई सौहार्दपूर्ण वातावरण भी नहीं मिलता। सामान्यतः लिखाने वाला यह भी नहीं जानता कि उसे क्या-क्या बातें लिखानी चाहिए। अतः प्रथम इत्तिला रिपोर्ट का मूल्यांकन करते समय रिपोर्ट लिखाने वाले की मनोदशा एवं परिस्थितियों की उपेक्षा नहीं होनी चाहिए और न उससे अस्वाभाविक आशाएं की जानी चाहिए।

विधि की दृष्टि से भी यह आवश्यक नहीं है कि प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में पूरा विवरण दिया जाए। घटना का संक्षिप्त वर्णन पर्याप्त होता है।[2] अतः रिपोर्ट में यह न लिखाना कि मैंने थाने आने के पहले अमुक गाँव वालों को घटना के बारे में बताया महत्वहीन माना गया क्योंकि यह तो विवरण की बात है।[3]

1. अपरेन जोजफ बनाम केरल राज्य- 1973 सु. को. 1;
2. उत्तर प्रदेश राज्य बनाम बलभद्दास-1985 उम.नि.सा. : 1985 सु.को. 1384; उत्तर प्रदेश राज्य बनाम हरीराम-1983 उम.नि.सा. 474 : 1983 सु.को. 1081; हरियाणा राज्य बनाम शेर सिंह-1981 उम.नि.सा. 88 : 1981 सु.को. 1021;
3. हरियाणा राज्य बनाम शेर सिंह-(उपर्युक्त);

जब बन्दूक चलाने का उल्लेख किया गया किन्तु लाठी मारने का उल्लेख नहीं किया गया तो इस लोप को भी महत्त्वहीन माना गया।[1] जब रिपोर्ट लिखाने वाला व्यक्ति घटना का प्रत्यक्षदर्शी न हो तब तो ऐसा लोप और भी महत्त्वहीन हो जाता है।[2] बल्लम का प्रयोग लाठी के तौर पर किए जाने का उल्लेख न होना भी महत्त्वहीन माना गया।[3] इसी प्रकार से साक्ष्य के अन्यथा विश्वसनीय होने पर यह महत्त्वहीन माना गया कि प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में नहीं लिखा है कि अपराधियों को टार्च की रोशनी में पहचाना।[4] घटना-स्थल पर पड़ी चीजों का उल्लेख न होना भी महत्त्वहीन माना गया।[5] जब रिपोर्ट ऐसे व्यक्ति द्वारा लिखाई गई जो घटना का प्रत्यक्षदर्शी नहीं था तो रिपोर्ट में प्रत्यक्षदर्शी साक्षियों के नाम न होना उन साक्षियों के बयान असत्य करने के लिए पर्याप्त नहीं माना गया।[6] जब इत्तिलाकर्ता को अभियुक्त का पदनाम ज्ञात था, किन्तु नाम नहीं तो प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में नाम का उल्लेख न होना स्वाभाविक है।[7] देहाती स्त्री द्वारा लिखाई गई रिपोर्ट में इस बात का भी उल्लेख न होना महत्त्वहीन माना गया कि मृतक को बचाने में उसके अपने कपड़ों में भी खून लग गया।[8] कहने का तात्पर्य यह है कि लोप (omission) तभी महत्त्वपूर्ण होगा जबकि वह ऐसी बात का हो जिसके विषय में उस मामले की परिस्थितियों में यह धारणा बने कि यदि वह बात होती तो वह स्वभावतः लिखाई जाती। जब रिपोर्ट सुनी-सुनाई बात के आधार पर लिखाई गई हो तो उसके अपने महत्व के साथ-साथ उसके लोपों का भी महत्व बहुत कम हो जाता है। यदि लोप महत्त्वपूर्ण हो, जैसे

---

1. उत्तर प्रदेश राज्य बनाम बद्दादास–1986 उम.नि.सा. 471 : 1986 सु.को. 1769; उत्तर प्रदेश राज्य बनाम बल्लभदास–(उपर्युक्त);
2. आन्ध्र प्रदेश राज्य बनाम बोयिया चन्द्रय्या- 1986 उम नि. सा. 441 : 1986 सु. को. 1899;
3. उत्तर प्रदेश राज्य बनाम हरीराम- 1983 उम नि. सा. 474;
4. धर्मपाल बनाम उत्तर प्रदेश राज्य- 1981 उम नि. सा. 164;
5. उत्तर प्रदेश राज्य बनाम सहाय- 1981 उम. नि. सा. 199 : 1981 सु. को. 1942;
6. प्रह्लाद बनाम महाराष्ट्र राज्य- 1981 उम. नि. सा. 155;
7. किशन चंद मंगल बनाम राजस्थान राज्य- 1982 उम. नि. सा. 477 : 1982 सु. को. 1511;
8. गुरनाम कौर बनाम बक्शीश सिंह- 1981 सु. को. 631;

कुछ अभियुक्तों के नाम प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में न होना, तो उस लोप के स्पष्टीकरण का दायित्व अभियोजन पक्ष का होगा।[1] किन्तु प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में नाम न होने के आधार पर ही अभियुक्त के विरुद्ध दिये गए अन्य बयानों की उपेक्षा नहीं कर दी जाएगी।[2]

प्रथम इत्तिला रिपोर्ट सामान्यतः मूल (substantive) साक्ष्य नहीं होती, यद्यपि घटना के विषय में पूर्वतम सूचना के रूप में उसके महत्व में संदेह नहीं हो सकता। उसका उपयोग या तो इत्तिला करने वाले के बयान की संपुष्टि के लिए भारतीय साक्ष्य अधिनियम की धारा 157 के अधीन या उसके खण्डन के प्रयोजनार्थ उक्त अधिनियम की धारा 145 के अधीन ही किया जा सकता है। उसका उपयोग अन्य साक्षियों के बयानों की संपुष्टि या खण्डन के लिए नहीं किया जा सकता।[3] किन्तु विशिष्ट परिस्थितियों में वह मूल साक्ष्य भी बन सकती है, जैसे घायल व्यक्ति के रिपोर्ट लिखाने के बाद उसकी मृत्यु हो जाने पर यदि मामला हत्या का बने तो वह प्रथम इत्तिला रिपोर्ट भारतीय साक्ष्य अधिनियम, 1872 की धारा 32 के अन्तर्गत मृत्युकालिक कथन (dying declaration) की कोटि में आ जायेगी तथा उसका साक्ष्य की दृष्टि से असाधारण महत्व हो जायेगा। यही नहीं, घटना के तुरन्त बाद लिखाई जाने के कारण वह उसी संव्यवहार (transaction) का भाग भी मानी जा सकती है तथा उससे रिपोर्ट लिखाने वाले के आचरण का भी संकेत मिलता है। अतः उसका न्यूनाधिक प्रभाव सम्पूर्ण मामले पर पड़ता है। किसी भी दशा से उसका मूल्यांकन करने में दृष्टिकोण व्यावहारिक होना चाहिये और यदि विश्वसनीय साक्ष्य हो तो प्रथम इत्तिला रिपोर्ट की किसी कमी के कारण सम्पूर्ण अभियोजन कथानक अमान्य नहीं किया जा सकता। हाँ, यदि रिपोर्ट प्रत्यक्षदर्शी व्यक्ति द्वारा लिखाई गयी हो और बाद के साक्ष्य में ऐसी महत्वपूर्ण बातें आयें जो प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में सामान्य क्रम में होनी चाहिये थीं किन्तु न हों तो उन बातों की समीक्षा इस दृष्टि से करनी होगी कि ये बाद में गढ़ी हुई बातें तो नहीं हैं। सारा निर्णय परिस्थितियों पर तथा अन्य साक्ष्य की विश्वसनीयता पर निर्भर करेगा।

---

1. दर्शन सिंह बनाम पंजाब राज्य-1983 उम. नि. सा. 231 : 1983 सु. को. 533;
2. इकराम बेग बनाम आन्ध्र प्रदेश राज्य-1987 सु. को. 923;
3. हसीम बनाम बिहार राज्य-1972 सु. को. 283 (286); अपरेन जोसफ बनाम केरल राज्य-1971 सु. को. 1;

जीवन और मृत्यु का निर्णय करने में न्यायाधीशों को विधि द्वारा नियत सीमाओं के भीतर रहते हुए, न्याय के साथ दया भावना भी रखनी चाहिये, अपराध के प्रति उनकी दृष्टि कठोर रहे और अपराधी के प्रति दयापूर्ण।

-फ्रांसिस बेकन।

विधि अत्यधिक नर्म होने पर उसका पालन बहुत कम होता है, और यदि वह अत्यधिक कठोर होती है तो उसका कार्यान्वयन बहुत कम होता है।

-बेन्जमिन फ्रैंकलिन।

—: 0 :—

रिमाण्ड वारण्ट

-[संकलित]

बहुधा वारण्ट बड़ी लापरवाही से तैयार किए जाते हैं। नए अधिकारियों को इस मामले में विशेष सतर्क रहने की आवश्यकता है। इस विषय में **न्यायमूर्ति श्री कमलेश्वर नाथ द्वारा सुभाष भण्डारी बनाम राज्य**–1986 इलाहाबाद वीकली केसेज 1049 में खण्ड न्यायपीठ की ओर से व्यक्त किए गए निम्नलिखित विचार ध्यान देने योग्य हैं :

अर्जीदार के विद्वान् अधिवक्ता द्वारा किया गया पहला तर्क यह है कि दोनों ही अर्जीदारों के अभिरक्षा[1] वारण्ट "जेलर, लखनऊ" को सम्बोधित हैं और इस प्रकार वे जेल के प्रभारी उपयुक्त अधिकारी को संम्बोधित नहीं हैं क्योंकि लखनऊ में कम से कम दो जेलें हैं, अर्थात् 1. जिला जेल और 2. आदर्श जेल।

कारागार अधिनियम, 1894[2] कारागार सम्बन्धी विधि के संशोधन और कारागारों के विनियमन के विषय में है। उसकी धारा 59(27) राज्य सरकार को शक्ति प्रदान करती है कि बन्दियों के कारागार में प्रवेश, अभिरक्षा, आदि के विषय में नियम बनाए। 'कारागार" से ऐसी जेल अभिप्रेत है जो कारागार अधिनियम की धारा 3(1) के अधीन बन्दी के निरोध के लिए है। यद्यपि यह धारा "कारागार" की परिभाषा में राज्य सरकार द्वारा उपकारागार के रूप में घोषित जेल को शामिल नहीं करती, बन्दी अधिनियम, 1900[3] (जो न्यायालय के आदेश से बन्द किए गए बन्दियो विषयक विधि को समेकित[4] करता है) अपनी धारा 2(ख) में दी गई 'कारागार" की परिभाषा में उपकारागार को भी शामिल करता है। बन्दी (न्यायालयों में उपस्थिति) अधिनियम, 1955 (सं. 32 सन् 1955) कारागार में बन्द व्यक्ति की आपराधिक आरोप का उत्तर देने के लिए न्यायालय में उपस्थिति के लिए उपबन्ध करता है। उसकी धारा 2(ख) में दी गई "कारागार" की परिभाषा में उपकारागार भी आता है।

---

1. Custody.
2. Prisons Act.
3. Prisoners Act.
4. Consolidate.

श्री एस. एन. श्रीवास्तव के उत्तर प्रदेश जेल मैनुअल (1984 संस्करण) के प्रथम पैरा में जेलों का वर्गीकरण दिया गया है। पैरा 4 और 13 के अनुसार लखनऊ में एक जिला जेल है और एक आदर्श कारागार। पैरा 8 के अनुसार विचाराधीन[1] बन्दी मामूली तौर पर जिला जेल में रखा जाना है। परिशिष्ट 1 के पृष्ठ 327 के साथ पठित पैरा 13 के अनुसार लखनऊ का आदर्श कारागार दोषसिद्ध[2] पुरुषों को रखने के लिए है, न कि विचाराधीन पुरुष बन्दियों के लिए।

आपत्ति का दूसरा आधार यह है कि अभिरक्षा वारण्टों में निरोध का प्राधिकार देना इस प्रकार लिखा गया है कि उसका कोई अर्थ नहीं निकलता। इस सम्बन्ध में **ऊरुज अब्बास बनाम उत्तर प्रदेश राज्य**-1973 क्रिमिनल लॉ जर्नल 1458 में हमारे न्यायालय के पूर्ण न्यायपीठ के निर्णय का आश्रय लिया गया। वह दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1898 की धारा 344 (1-क) के अधीन रिमाण्ड वारण्टों की विधिमान्यता के सम्बन्ध में है। उक्त उपबन्ध का स्थान अब दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 309 की धारा 309 (2) ने ले लिया है।

हमारे उच्च न्यायालय ने उत्तर प्रदेश के अधीनस्थ दण्ड न्यायालयों के लिए भारत के संविधान के अनुच्छेद 227(2) (ख) के अधीन प्राप्त शक्तियों का प्रयोग करके सामान्य नियमावली (दाण्डिक), 1957[3] बनाई। उस नियमावली का नियम 157 इस प्रकार है :

'दण्ड न्यायालय में उपयोग के लिए प्राधिकृत सभी फार्मों की सूची परिशिष्ट "ख" में दी गई है। प्राधिकृत फार्म से भिन्न कोई छपा फार्म किसी न्यायालय में उपयोग में नहीं लाया जावेगा।'

परिशिष्ट "ख" वाली सूची में फार्म सं० 47 'अन्तर्कालीन अभिरक्षा के लिये रिमाण्ड वारण्ट : धारा 344 के लिये है। **ऊरुज अब्बास** के उपर्युक्त मामले में पूर्ण न्यायपीठ ने इस फार्म के सभी विवरणों पर विचार किया। इस बात पर ध्यान दिया गया कि फार्म का प्रारम्भ उस जेलर के वर्णन से होता है जिसको सूचित किया जाता है कि उस अभियुक्त को, जिसके विवरण व अपराध बताये गये हैं, प्रतिप्रेषित (रिमाण्ड) किया गया है। आगे वह जेलर को निदेश देता है कि अभियुक्त को अपनी अभिरक्षा में ले तथा उसे विनिर्दिष्ट न्यायालय

1. Undertrial. 2. Convicted. 3. General Rules (criminal).

में 'पीछे की ओर को गई अपेक्षानुसार' पेश करें। न्यायालय ने इस बात की ओर भी ध्यान दिया कि प्रारूप[1] की दूसरी ओर चार स्तम्भों वाली एक सारणी है। ये स्तम्भ है :-

1. अभियुक्त की क्रम संख्या (जो बाद में संशोधित करके रिमाण्ड की क्रम संख्या पर दी गई);
2. आदेश की तारीख;
3. वह तारीख जब अभियुक्त को पेश करना है;
4. मजिस्ट्रेट के हस्ताक्षर।

न्यायालय ने पाया कि सम्पूर्ण प्रारूप का प्रयोग नहीं किया गया है। उसे ऊपर से नीचे बीच में फाड़कर केवल आधे भाग का प्रयोग किया गया है जिससे कि वह आधा भाग ही एक अभियुक्त के लिए रिमाण्ड वारण्ट का काम दे। ऐसा ही प्रस्तुत मामले में किया गया है। प्रारूप का बांया आधा भाग उपयोग में लाया गया जिसकी दूसरी ओर स्तम्भ 3 का एक अंश तथा सम्पूर्ण स्तम्भ 4 है। 4.1.71 और 13.1.71 को किए गए रिमाण्डों को प्रश्नगत किया गया। पाया यह गया कि 4.1.71 तारीख चौथे स्तम्भ में दी गई है और फिर तीसरे स्तम्भ में वही तारीख देने के साथ-साथ उसके सामने तारीख 13.1.71 भी दी गई है। तत्पश्चात् तीसरे स्तम्भ में 13.1.71 लिखकर उसके सामने के स्तम्भ में 21.1.71 लिखी गई। इन लिखी गई तारीखों के बाद चौथे स्तम्भ में मजिस्ट्रेट के आद्याक्षर हैं[2]। अभियुक्तों की ओर से बहस की गई कि जिस प्रकार से तारीखें प्रारूप के पीछे की ओर दी गई हैं उसका कोई अर्थ नहीं निकलता और इस प्रकार से कोई रिमाण्ड नहीं हुआ। एक पूर्व निर्णय का आश्रय लेते हुए पैरा 12 में यह निष्कर्ष निकाला गया कि शीर्षकों के पढ़ने पर पीछे की ओर लिखी गई प्रविष्टियां अर्थहीन हैं। वह पूर्व निर्णय दाण्डिक प्रकीर्ण मामला सं० 737 सन् 1969 में 27.10.69 को दिया गया था। न्यायालय ने निम्नलिखित निर्णय किया :-

"अभिलेख में अभियुक्त को रिमाण्ड करने के किसी अन्य आदेश के अभाव में तदनुसार निर्णय किया गया कि तथाकथित वारण्ट दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 344 के अधीन अपेक्षित वारण्ट नहीं है और उस कारण से अभियुक्त अर्जीदार का निरोध अवैध है। हम यह बता दें कि यदि वारण्ट के पूरे प्रारूप का प्रयोग किया गया होता और

1. Forms. 2. Initials.

पीछे की ओर के स्तम्भों की प्रविष्टियां ठीक से की गई होती तो प्रारूप को दोनों ओर से पढ़ने पर पूर्वोक्त प्रविष्टियां होने के बावजूद प्रारूप को धारा 344(1-क) की अपेक्षाओं का सारतः पालन करता माना जाता क्योंकि रिमाण्ड करने का आशय स्पष्ट होता। किन्तु अर्जीदार के बारे में हमारे समक्ष पेश किए गए तथाकथित वारण्ट के आधार पर, जो वारण्ट के फार्म का आधा भाग है और जिसमें पीछे की ओर की प्रविष्टियां इस प्रकार की गई हैं कि वे सामने की प्रविष्टियों के साथ पढ़ने पर भी अर्थहीन लगती हैं, हम यह निष्कर्ष नहीं निकाल सकते कि अर्जीदार दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 344(1-क) के अर्थों में 4.1.71 व 13.1.71 के वारण्ट द्वारा रिमाण्ड किया गया। परिणामतः 4.1.71 के बाद उसका निरोध अवैध हो गया।"

आगे पैरा 18 में न्यायालय ने कहा :-

"प्रस्तुत मामले में रिमाण्ड वारण्ट एक विकृत कागज है। ऐसा चाहे ध्यान न दिये जाने के कारण हो, और चाहे लापरवाही के कारण, और चाहे इस दृष्टि से कि एक फार्म का उपयोग दो बन्दियों के लिए किया जा सके। अधीनस्थ दण्ड न्यायालयों में एक परिपाटी बन गई है कि छपे फार्म को ऊपर से नीचे की ओर फाड़ कर दो टुकड़े बना लें और एक भाग का उपयोग एक बन्दी के लिए करें और दूसरे का दूसरे बन्दी के लिए। जैसा कि विद्वान बन्धु गुरु शरण लाल श्रीवास्तव ने बताया, उसके परिणामस्वरूप भ्रान्ति और अनिश्चितता होती है। यदि छपे प्रारूप की अपेक्षाओं का सही-सही पालन किया जाये। तो स्थिति इस बारे में स्पष्ट हो जावेगी कि अभियुक्त की क्रम संख्या क्या है, आदेश की तारीख क्या है तथा अभियुक्त को किस तारीख को पेश करना है। जो भी हो, प्रस्तुत मामले में अन्तर्कालीन अभिरक्षा के वारण्ट में दूसरी ओर केवल तीसरा व चौथा स्तम्भ है और इन दो स्तम्भों में की गई प्रविष्टियों से प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती। अतः हम सहमत हैं कि प्रस्तुत मामले में वारण्ट अवैध है और अर्जीदार को तुरन्त छोड़ दिया जाना चाहिए।"

हमारे समक्ष के मामले में प्रारूप के बाएं आधे भाग का प्रयोग इस प्रकार किया गया है कि स्तम्भ संख्या 1 और 2 पूरे और स्तम्भ संख्या 3 आधा ही आ पाया है और उन्हीं का उपयोग किया गया है। स्तम्भ 1 और 2 में तारीखें 11.8.86 और 10.10.86 लिखी हुई हैं और स्तम्भ 3 के भाग में उक्त तारीखों के सामने मजिस्ट्रेट के आद्याक्षर हैं। यह बिल्कुल स्पष्ट है कि इन स्तम्भों को शीर्षकों के साथ पढ़ने पर, जैसा कि **ऊलज अब्बास** वाले उपर्युक्त मामले में कहा गया, ये प्रविष्टियां अर्थ-हीन हैं, भले ही वे प्रारूप के सामने के भाग के साथ पढ़ी जायें जिसमें 11.8.1986 की तारीख और मजिस्ट्रेट के वारण्ट पर हस्ताक्षर भी हैं।

हमारे समक्ष के मामले में अर्जीदार के अभिरक्षा वारण्ट फार्मों की प्रविष्टियां आप्राह्य और अर्थ-हीन हैं। पहले दिन, अर्थात् 11.8.86 के बाद,

जबकि वारण्ट पर मजिस्ट्रेट ने सामने की ओर हस्ताक्षर किए, उससे विधिमान्य प्रतिप्रेषण नहीं हो सकता।

यह सुप्रतिष्ठित है कि किसी न्यायालय को किसी अभियुक्त को अभिरक्षा में प्रतिप्रेरित (रिमाण्ड) करने की अन्तर्निहित[1] शक्ति तब के सिवाय नहीं होती जबकि वह शक्ति विधि द्वारा प्रदत्त की गई हो, देखिये **नटवर परीदा बनाम उड़ीसा राज्य**-1975 क्रिमिनल लॉ जर्नल 1212 (सु.को.)। आरोप-पत्रक दाखिल किए जाने के समय तक की प्रतिप्रेषण शक्ति धारा 167 (2) दं. प्र. सं. में है। आरोप-पत्रक दाखिल किये जाने के बाद प्रतिप्रेषण की शक्ति धारा 309 दं. प्र. सं. में है। किन्तु सारतः एक ही उद्देश्य (अर्थात् बन्दी की अभिरक्षा और उसकी पेशी) की प्राप्ति के लिए इन दोनों उपबन्धों में अलग-अलग शब्दावली का प्रयोग ध्यान देने योग्य है। धारा 167 (2) में कहा गया है कि मजिस्ट्रेट "अभियुक्त का ऐसी अभिरक्षा में, जैसी वह मजिस्ट्रेट ठीक समझे निरुद्ध किया जाना प्राधिकृत कर सकता है।" धारा 309 (2) दं.प्र.सं. में यह उपबन्ध है कि न्यायालय मामले को स्थगित करते समय 'यदि अभियुक्त अभिरक्षा में है तो उसे वारण्ट द्वारा प्रतिप्रेषित कर सकता है।' शब्दावली का अन्तर प्रत्यक्ष है, यद्यपि दोनों उपबन्धों का उद्देश्य एक ही है, अर्थात् एक उल्लिखित समय पर्यन्त बन्दी की अभिरक्षा-व्यवस्था करना। शब्दावली के इस अन्तर की ओर ध्यान मध्य प्रदेश उच्च न्यायालय के खण्ड न्यायपीठ ने **श्रीलाल नन्दराम बनाम आर. आर. अग्रवाल**-आ.इं रि. 1960 मध्य प्रदेश 135 में दिया। न्यायलय ने प्रकाशित निर्णय के पैरा 4 में कहा कि धारा 167 दं.प्र.सं. में निर्दिष्ट समय का विस्तारण उस धारा में 'प्राधिकृत निरोध' कहा गया है, न कि प्रतिप्रेषण। पैरा 5 में यह कहा गया :-

"इससे यह स्पष्ट होगा कि प्रथम प्रक्रम पर दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 167 के अधीन जिसे प्रायः पुलिस रिमाण्ड कहा जाता है, वह वस्तुतः प्राधिकृत निरोध होता है। दूसरा प्रक्रम तब आता है जबकि अन्वेषण 15 दिन के भीतर पूरा न हो तथा अतिरिक्त साक्ष्य एकत्र करने के लिए और समय की आवश्यकता हो। इस दूसरे प्रक्रम पर ही रिमाण्ड दिया जाता है और धारा 344 दं.प्र.सं. में शब्द "अभियुक्त" का वस्तुतः प्रयोग किया गया है।"

यह कहने के बाद न्यायपीठ उक्त दो उपबन्धों के भावों का अन्तर स्पष्ट करने को अग्रसर नहीं हुआ। किन्तु हम कुछ सुसंगत सम्बद्ध बातें ध्यान दिलाते हैं।

---

1. Inherent.

जैसा कि पहले बताया गया, अभिरक्षा वारण्ट का प्ररूप कानूनी नियम द्वारा केवल धारा 344 के अधीन रिमाण्ड के लिए विहित है, न कि धारा 167 दं.प्र.सं. के अधीन रिमाण्ड के लिए। इसका मामले को स्थगित करते समय अभियुक्त को अभिरक्षार्थ प्रतिप्रेषित करने के प्रयोजनार्थ महत्व **ऊरज अब्बास** वाले मामले में बताई गई विधिक स्थिति से और तत्पश्चात् उसका अनुसरण करने वाले निर्णयों की शृंखला से प्रकट होता है। पुरानी धारा 344 (1–क) या नई धारा 309 (2) दं.प्र.सं. 1973 के अधीन अभियुक्त को अभिरक्षार्थ रिमाण्ड करने का आदेश मजिस्ट्रेट को मामले के अभिलेख में पारित करना नहीं होता मजिस्ट्रेट से अपेक्षा यह है कि वह केवल स्थगन आदेश पारित करते हुए उसका कारण लिखे। अभियुक्त को अभिरक्षार्थ रिमाण्ड करने का कार्य रिमाण्ड वारण्ट द्वारा पूरा हो जाता है। इस प्रकार धारा 309 (2) दं.प्र.सं. के अधीन विचाराधीन बन्दी के किसी विचाराधीन कार्यवाही के दौरान आगे निरोध के लिए कानूनी प्राधिकार किसी रिमाण्ड आदेश से न मिलकर रिमाण्ड वारण्ट से मिलता है। अतः यह नितान्त आवश्यक है कि धारा 309 दंप्र.सं. के अधीन दिया गया रिमाण्ड वारण्ट स्वयं अपने में बिल्कुल सही हो। हम उन अनेक निर्णयों का उल्लेख करना आवश्यक नहीं समझते जिनमें यह कहा गया है कि जब कार्य किसी विशिष्ट प्रकार से किए जाने की अपेक्षा की गई हो तो वह उसी प्रकार से किया जाना चाहिए और उसे किसी अन्य प्रकार से करना प्रतिषिद्ध होगा। कानूनी प्रक्रियात्मक उपबन्धों के उल्लंघन के मामलों में सारतः अनुपालन का सिद्धांत केवल ऐसी भूलों तक सीमित करना होगा जो अनियमितता की कोटि में आती हैं, न कि अवैधता की कोटि में। वैसी ही स्थिति में वारण्ट की त्रुटि को धारा 465 दं.प्र.सं. रक्षा प्रदान करती है।

निरोध आदेश में सन्देह की स्थिति की दशा में निष्कर्ष बन्दी के पक्ष में होना चाहिए, जैसा कि अर्जीदार के विद्वान् अधिवक्ता द्वारा आश्रय लिए गए निर्णय **राम मनोहर लोहिया बनाम बिहार राज्य**-आ.इं.रि. 1966 सु.को. 740 में कहा गया। अर्जीदार के विद्वान् अधिवक्ता ने **राम नारायण बनाम दिल्ली प्रशासन**-आ.इं.रि. 1953 सु.को. 277 वाले निर्णय का भी सही तौर पर आश्रय लिया, जिसमें कहा गया है कि प्ररूपों और नियमों का कड़ाई से पालन किया जाना चाहिए।

इस मामले को समाप्त करने के पूर्व हम यह आदेश देना चाहेंगे कि ऐसे सीधे-साधे मामलों में भी कर्तव्य की नितान्त अवहेलना रुकनी चाहिए, जिनकी

बाबत यह न्यायालय अनेक बार कह चुका है। कम से कम 1969 से यह न्यायालय बराबर इस गलत परिपाटी की ओर तथा छपे हुए विहित रिमाण्ड अभिरक्षा प्ररूपों को ऊपर से नीचे दो भागों में फाड़ने और रिमाण्ड प्राप्त करने के लिए केवल आधे भाग का प्रयोग करने के परिणामों की ओर ध्यान आकृष्ट करता रहा है, और फिर भी वह गलत परिपाटी चालू है। कम से कम 1955 से इस न्यायालय द्वारा बताया जाता रहा है कि व्यक्ति की गिरफ्तारी के समय या उसके लगभग उस व्यक्ति को पुलिस अधिकारी द्वारा दी जाने वाली जानकारी में उसी प्रकार का वर्णन आना चाहिए जो दाण्डिक विचारण में आरोप विरचित करने के लिए अपेक्षित है, किन्तु न तो पुलिस की जनरल डायरी में और न गिरफ्तार करने वाले अधिकारी के शपथ-पत्र में यह विवरण दिया जाता है। यह सीधी-सादी बात तक नहीं की जाती कि अभिरक्षा वारण्ट में कारागार का या बन्दी का सही पता दे दिया जाय। जैसा कि पहले बताया गया, प्रस्तुत मामले में अभिरक्षा वारण्ट "जेलर लखनऊ" को सम्बोधित है, जैसे कि लखनऊ ही कोई जेल हो। अभिरक्षा वारण्ट में अजींदार कमलेश प्रताप सिंह का विवरण और पता उसका न होकर प्रथम इत्तिला देने वाले सुरत कुमार वर्मा का है। उत्तर प्रदेश जेल मेनुअल में उपबन्ध होते हुए भी जेल अधिकारियों ने भी अभिरक्षा वारण्ट की भूलों के सुधार के लिए कोई प्रयास नहीं किया।

—:0:—

जो बुरे लोगों को दण्ड नहीं देते वे (गौणतः) यह चाहते हैं कि भले लोग पीड़ित हों।

—विवेकोदय।

शनाख्त कार्यवाही

(श्री रौल्फ की पुस्तक "पर्सनल आइडेन्टिटी" व भारतीय नजीरों के आधार पर)

अपराध करने वाला व्यक्ति पहले से जाना-पहचाना भी हो सकता है और नया भी। पहले से जाना-पहचाना होने की दशा में प्रथम इत्तिला रिपोर्ट[1] में तथा साक्षियों के बयानों में उसका नाम आ जाता है और उसके आधार पर यह निश्चित हो जाता है कि अपराध करने वाला व्यक्ति अमुक है। किन्तु यदि अपराध करने वाला व्यक्ति जाना-पहचाना नहीं होता तो प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में उसका नाम नहीं आ पाता। ऐसी दशा में अपराध होना निश्चित होने पर भी यह प्रश्न रहता है कि अपराध किस व्यक्ति ने किया। बाद में जब किसी सूत्र से पता लगने पर अपराधी पकड़ा जाता है, या किसी व्यक्ति के किसी अन्य मामले में पकड़े जाने पर उससे ही पता लगता है कि प्रश्नगत अपराध भी उसी ने किया था, तो सवाल उठता है सबूत का; कि क्या अपराध करने वाला व्यक्ति यही है। दूसरे शब्दों में, घटना के साक्षियों को पहचानना होता है कि वास्तव में इसी व्यक्ति ने अपराध किया। इसके लिये, सीधे न्यायालय में ही पहली बार पहचान कर यह कह देना कि 'यही वह व्यक्ति है' सामान्यतः पर्याप्त नहीं माना जाता। इसके अतिरिक्त, पुलिस को भी अपना समाधान करना होता है जिसके आधार पर वह चालान कर सके। न्यायालय में अभियुक्त के कटघरे में खड़े व्यक्ति को देखकर तो कोई भी साक्षी आसानी से कह सकता है अपराधी व्यक्ति यह है। ऐसा वह बिना पूरा विश्वास हुये भी कह सकता है और बिना वस्तुतः पहचाने भी। समाधान इस बात का होना चाहिये कि साक्षी वस्तुतः अपराधी को पहचान सकता है। इसके लिये अन्वेषण[2] के दौरान एक कार्यवाही होती है जिसे 'शनाख्त कार्यवाही" या : शनाख्त परेड" कहा जाता है। इसमें तथाकथित अभियुक्त को दस मिलते-जुलते बाहरी व्यक्तियों में मिलाकर खड़ा कर दिया जाता है और एक-एक साक्षी आकर उन व्यक्तियों में से पहचानता है कि उनमें से अपराधी व्यक्ति कौन है। यह कार्य किसी मजिस्ट्रेट की देख-रेख में होता है और वही उसका अभिलेख तैयार करता है।

---

1. F. I. R. 2. Investigation

शनाख्त कार्यवाही में गड़बड़ी करने तथा उसकी अविश्वासनीयता के अनेक उदाहरण दृष्टि में आए हैं। पहले तो यही कठिन हो जाता है कि अभियुक्त से मिलते-जुलते व्यक्ति एकत्र किए जाएं। मिलती-जुलती सूरतें होते हुए भी उनके चेहरे के भावों और व्यवहार में अन्तर होता है। उदाहरणार्थ, यदि अभियुक्त व्यक्ति बहुत ऊँचे स्तर का हो तो अन्य व्यक्तियों से आकृति में मिलता-जुलता होते हुए भी उसे उनमें से पहचाना जा सकता है। अभियुक्त व्यक्ति पंक्ति में किस जगह खड़ा है, इससे भी संकेत मिल जाता है। अतः बहुधा प्रत्येक नए साक्षी के आने के पूर्व अभियुक्त का पंक्ति में स्थान बदल दिया जाता है।

इंग्लैण्ड में पुलिस शक्तियों पर बनाये गए शाही आयोग (1929) के समक्ष अनेक मामले गलत शनाख्त के आए। 1953 में तो एक असाधारण मामला हुआ। एक आटा मिल से एक व्यक्ति ट्रक पर दस टन आटा यह कह कर ले गया कि उसे गूँथे आटे की मिठाई बनाने वाली एक प्रसिद्ध फर्म द्वारा भेजा गया है। बाद में उस फर्म से संपर्क करने पर पता लगा कि उसने आटा नहीं मंगाया था, और न उसे आटा मिला। अतः एक ट्रक ड्राइवर को चोर मानकर शनाख्त कार्यवाही कराई गई और दो साक्षियों ने उसे सही पहचान भी लिया। किन्तु सौभाग्य से विचारण के दौरान ही पता लग गया कि आटा वास्तव में मंगाया गया था, यद्यपि वह फर्म दूसरी थी और ड्राइवर भी दूसरा था। ऐसी दशा में गलत पकड़ा गया ड्राइवर उन्मोचित कर दिया गया।

सन् 1927 में कोर्ट आफ क्रिमिनल अपील में न्यायालय ने एक अभियुक्त को इस आधार पर छोड़ दिया कि जिस साक्षी ने उसे शनाख्त कार्यवाही में पहचाना था वह उसे न्यायालय में नहीं पहचान पाया। बात यह थी कि उस साक्षी को सन्देह तो पूरा था कि अभियुक्त व्यक्ति ही अपराधी है, किन्तु पूरा विश्वास नहीं था। शनाख्त कार्यवाही बिना शपथ के होती है, अतः वहां तो उसने अभियुक्त को पहचाना। किन्तु जब शपथ पर बयान देने का अवसर आया तो वह पीछे हट गया। उसने कहा–मैं दांव तक लगा सकता हूं कि यही व्यक्ति अपराधी है, किन्तु शपथ पर बयान नहीं दे सकता हूं।"

यह स्मरणीय है कि साक्षी कभी–कभी पूरे विश्वास के बिना भी कुछ समानता के आधार पर पहचान देता है। वह उस शनाख्त परेड में खड़े व्यक्तियों में किसी ऐसे एक को पहचान देता है जो उसे अपराधी से सबसे अधिक मिलता जुलता लगता है क्योंकि वह जानता है कि अभियुक्त इस परेड में अवश्य है।

इस कारण इंग्लैण्ड में एक सुझाव यह भी दिया गया है कि शनाख्त कार्यवाही प्रत्येक साक्षी से दो बार कराई जाए, एक बार अभियुक्त को मिलाकर और एक बार अभियुक्त को मिलाये बिना। किन्तु व्यवहार में इसमें कठिनाइयाँ आएगी व भारत में इसे आवश्यक नहीं समझा जाता।

किसी भी दशा में यह स्मरणीय है कि शनाख्त कार्यवाही वाले मामले में दोषसिद्धि केवल शनाख्त कार्यवाही पर निर्भर करती है। उसमें यह भी हो सकता है कि गलत व्यक्ति पहचान लिया जाए और इस प्रकार निर्दोष व्यक्ति दण्डित हो जाये। अतः शनाख्त कार्यवाही की विश्वसनीयता की विशेष तौर पर परख करनी चाहिए। देखने की पहली बात यह होगी कि क्या साक्षी को घटना के समय अभियुक्त को इतनी भली-भांति देखने का अवसर मिला होगा कि उसकी छवि उसके मस्तिष्क पर अंकित हो सके, जिसके आधार पर वह बाद में उसे पहचान सके। प्रकाश की कमी, अपराधी तथा साक्षी के बीच की दूरी, साक्षी की कमजोर दृष्टि, आदि, अनेक कारण हो सकते हैं जिनसे कि साक्षी अपराधी को ठीक से न देख पाये। यही नहीं, बहुधा साक्षी अवसर मिलने पर भी अपराधी को ठीक से देखने से घबड़ाता है कि कहीं अपराधी यह देखकर कि साक्षी उसे पहचानने का प्रयास कर रहा है उस पर हमला न कर दे। अतः पहली बात यही देखनी होगी कि क्या अपराधी को घटना के समय ठीक से देखने का अवसर साक्षी को मिला। इसी कारण केवल एक साक्षी द्वारा शनाख्त किया जाना अभियुक्त की दोषसिद्ध के लिए पर्याप्त नहीं माना जाता। शनाख्त करने वाला साक्षी शनाख्त करते समय गलतियां करें तो भी वह अविश्वसनीय हो जाता है। उदाहरणार्थ, यदि कोई साक्षी एक अभियुक्त को तो सही पहचान ले तथा दो अन्य अभियुक्तों को गलत पहचाने तो उसकी सही शनाख्त भी अविश्वसनीय हो जायेगी।

ठीक से देखने के बाद यदि बहुत समय बीत जाता है तो भी अपराधी की साक्षी के मस्तिष्क में बनी छवि धूमिल हो जाती है। अतः यदि शनाख्त कार्यवाही व घटना के बीच अधिक समय का अंतराल हो गया हो तो उसकी विश्वसनीयता घट जाती है। उच्चतम न्यायालय के अनेक निर्णय[1] हैं जिनमें कई मास बाद हुई शनाख्त कार्यवाही को दोषसिद्धि के लिए उचित आधार नहीं माना गया।

1. सुभाष बनाम उत्तर प्रदेश राज्य 1987 उम.नि.सा. 329 : आ.इं.रि. 1987 सु.को. 1222; अब्दुल हफीज बनाम आन्ध्र प्रदेश राज्य - 1973 उम.नि.सा. 28 : आ.इं.रि. 1983 सु.को. 366; मुनू स्वामी बनाम मद्रास राज्य आ.इं.रि. 1954 सु.को. 4;

कभी अभियुक्त के कोई स्पष्ट पहचान-चिह्न होता है जिसके बताए जाने पर कोई भी व्यक्ति उसे पहले से देखे बिना पहचान लेगा, जैसे-चेहरे के किसी विशिष्ट स्थान पर तिल या गांठ या चोट का निशान। स्पष्ट ही है कि शनाख्त कार्यवाही के लिए वैसे ही चिह्न वाले अन्य व्यक्ति एकत्र कर पाना असंभव होगा। अतः विधान यह है कि ऐसे चिह्न को चिप्पी लगाकर ढक दिया जाए और वैसी ही चिप्पियां अन्य मिलाए गए व्यक्तियों के भी लगा दी जाए। अन्य व्यक्तियों के चिप्पियां लगाने की आवश्यकता इसलिए होती है क्योंकि अन्यथा अभियुक्त को चिप्पियों के कारण ही पहचान लिया जाएगा। अतः शनाख्त कार्यवाही का मूल्यांकन करते समय यह भी देखना होगा कि अभियुक्त का उक्त प्रकार का कोई चिह्न छिपाने से तो नहीं रह गया। यदि वह छिपाया गया होगा तो शनाख्त कार्यवाही का जो ज्ञापन तैयार किया गया होगा उसमें उसका स्पष्ट उल्लेख होगा। ऐसे उल्लेख के बिना केवल मौखिक बयान के आधार पर यह न माना जा सकेगा कि पहचान चिह्न को छिपाया गया। यदि ऐसे चिन्ह को छिपाया नहीं गया है तो शनाख्त कार्यवाही व्यर्थ हो जायेगी और उसमें पहचानने का कोई महत्व नहीं रह जायेगा। इसी संदर्भ में यह भी स्मणीय है कि कभी-कभी अभियुक्त शनाख्त कार्यवाही को व्यर्थ करने के लिए ऐसा पहचान-चिह्न उस कार्यवाही के बाद बनवा लेता है और फिर यह बहस की जाती है कि अमुक पहचान चिह्न छिपाया न जाने के कारण शनाख्त कार्यवाही अमान्य है। उस दृष्टि से यह भी देखना होगा कि क्या वह पहचान चिह्न शनाख्त कार्यवाही के समय भी विद्यमान था।

यह भी देखना होगा कि अभियुक्त की गिरफ्तारी के बाद शनाख्त कार्यवाही में अधिक विलम्ब न हो। यदि अधिक विलम्ब होता है तो यह आशंका बलवती होती है कि पुलिस ने अभियुक्त को साक्षियों द्वारा पहचनवाने के लिए यह विलम्ब करा दिया।

साथ ही यह भी स्मरणीय है कि अनजाने अपराधी के मामले में मुख्य आश्रय शनाख्त कार्यवाही का होता है। उसके बिना ऐसे सभी अपराधी बच जायेंगे। अतः शनाख्त कार्यवाही पर गम्भीरता से विचार करना चाहिए। अपेक्षाकृत कम विश्वसनीय कार्यवाही भी अन्य साक्ष्य से मिलकर दोषसिद्धि का आधार बन सकती है, जैसे अभियुक्त के पास से चोरी का माल निकलना और उसका कोई स्पष्टीकरण न होना, अभियुक्त की अथवा निशानदेही पर उसके यहां से मृतक का शव या हत्या करने का हथियार बरामद होना, आदि-आदि। ऐसा

साक्ष्य भी हो सकता है कि उसे पहले से जानने वाला कोई साक्षी कहे कि उसने उसे अमुक कार्य करते देखा था जो उसे अपराध से जोड़ता हो। किसी भी दशा में दृष्टिकोण व्यवहारिक होना चाहिए और यह देखना होगा कि क्या साक्ष्य ऐसा है कि एक सामान्य प्रज्ञा वाला व्यक्ति यह मानकर चलेगा कि अपराध इस अभियुक्त ने किया।

अन्त में यह उल्लेखनीय है कि शनाख्त कार्यवाही का सबूत मूल (substantive) साक्ष्य नहीं होता व जब शनाख्त कार्यवाही में पहचानने वाला साक्षी स्वयं साक्षी के रूप में आकर न्यायालय में सशपथ बयान देता है कि अमुक व्यक्ति ने अपराध किया तो शनाख्त कार्यवाही में उसके सभी अभियुक्त को पहचानने का साक्ष्य उसके सशपथ बयान की संपुष्टि करता है। यदि उस साक्षी का न्यायालय में बयान नहीं होता तो उसका शनाख्त कार्यवाही में पहचानना व्यर्थ ही जायेगा।[1]

---

1. हसीब बनाम बिहार राज्य–आ. इ. रि. 1972 सु. को. 283 (286);

—: 0 :—

उपलब्धि श्रम के पहले केवल शब्द-कोश में मिलती है।

———

अपराध का मजिस्ट्रेट द्वारा संज्ञान

(संकलित)

उ.नि.सा.—उच्चतम न्यायालय निर्णय-सार। सु० को०—आल इण्डिया रिपोर्टर-सुप्रीम-कोर्ट

मजिस्ट्रेट द्वारा संज्ञान (cognizance) किये जाने के लिए विधान दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 190 में है। "संज्ञान" शब्द की परिभाषा स्वयं संहिता में कहीं नहीं है। उसके अर्थ का विनिश्चय विभिन्न निर्णयों में किया गया है। जब कोई मजिस्ट्रेट किसी अपराध पर न्यायिक हैसियत से, अर्थात उसका विचारण किये जाने की दृष्टि से, ध्यान देता है तो वह "संज्ञान करता" कहलाता है। संज्ञान करने के लिए किसी औपचारिक कार्यवाही की आवश्यकता नहीं होती। जब पहली बार मजिस्ट्रेट किसी अपराध के विषय में अपने न्यायिक मस्तिष्क का प्रयोग करता है तो संज्ञान करना हो जाता है।[1] यह आवश्यक है कि मस्तिष्क का प्रयोग न्यायिक हैसियत से, अर्थात विचरण की दृष्टि से हो न कि केवल अन्वेषण (investigation) या पूछताछ की दृष्टि से। अतः यदि मजिस्ट्रेट दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 156 (3) के अधीन पुलिस अन्वेषण का आदेश देता है तो वह संज्ञान करना नहीं होगा। किन्तु यदि वह धारा 202 (1) दं० प्र० सं० के अधीन अन्वेषण का आदेश देता है तो वह संज्ञान करना हो जायेगा। इसी कारण जब मजिस्ट्रेट ने एक परिवाद [complaint] पर धारा 200 दं.प्र.सं. के अधीन परिवादी का बयान लिखकर पुलिस रिपोर्ट माँगी और पुलिस ने अरोप-पत्रक [चार्जशीट] दे दिया तो संज्ञान परिवाद पर माना गया, न कि पुलिस रिपोर्ट पर।[2] परिवाद के मामले में मजिस्ट्रेट धारा 202 दं.प्र.सं. के अधीन जो पुलिस द्वारा अन्वेषण करा सकता है, वह क्रम परिवादी का बयान लिखने के बाद का है और धारा 200 दं.प्र.सं. के अधीन परिवादी का बयान उस धारा के ही शब्दों में 'किसी अपराध का संज्ञान करने वाला मजिस्ट्रेट" ही लिखता है, जिसका तात्पर्य हुआ कि उसने संज्ञान कर लिया।

---

1. दर्शन सिंह रामकिशन बनाम महाराष्ट्र राज्य–1971 सु.को. 2372;
2. जमुना सिंह बनाम भदई शाह–1964 सु. को. 1541;

स्वयं धारा 190 दं.प्र.सं. के अनुसार उस धारा में दी गई संज्ञान की शक्ति अध्याय 14 के अन्य उपबन्धों के अधीन रहते हुए है। इसका तात्पर्य यही है कि मजिस्ट्रेट संज्ञान करने की शक्ति का प्रयोग धारा 191 तक के उपबन्धों के अधीन रहते हुए ही कर सकता है। इस प्रकार यदि संज्ञान पुलिस रिपोर्ट अथवा परिवाद पर न किया जाकर धारा 190(i) (ग) के अनुसार किया जाय तो अभियुक्त साक्ष्य लिए जाने के पहले अन्तरण (transfer) का आग्रह धारा 191 के अधीन कर सकता है। धारा 195 के अनुसार कुछ अपराधों का संज्ञान विशिष्ट लोक सेवक या उसके उच्चाधिकारी द्वारा अथवा सम्बन्धित या उच्चतम न्यायालय द्वारा परिवाद किए जाने पर ही किया जा सकता है, अन्यथा नहीं। धारा 196 के अनुसार राज्य के विरुद्ध कुछ अपराधों का संज्ञान केन्द्रीय सरकार या राज्य सरकार या उसके द्वारा प्राधिकृत व्यक्ति की मंजूरी के बाद या सम्मति से ही किया जा सकता है। धारा 197 में लोक सेवकों द्वारा उनके पदीय कर्तव्यों से सम्बन्धित कुछ अपराधों के अभियोजन (prosecution) के लिए पूर्व मंजूरी का विधान है और ऐसी पूर्व मंजूरी होने पर ही संज्ञान किया जा सकता है। धारा 198 में विवाह संबंध का उल्लंघन करने वाले अपराध के संज्ञान के लिए व्यथित व्यक्ति (पति या पत्नी) का परिवाद आवश्यक कर दिया गया है। उसमें कुछ अन्य उपबन्ध भी हैं। धारा 199 ने मानहानि के अपराध के लिए मानहानि-कृत व्यक्ति या लोक अभियोजक (public prosecution) का परिवाद आवश्यक कर दिया है। कुछ उच्च अधिकारियों के मामले में सरकार की पूर्व मंजूरी भी आवश्यक है। कुछ अन्य बन्धन भी हैं। इसके अतिरिक्त, विभिन्न विशेष अधिनियमों के अधीन अपराधों के विषय में बहुधा यह व्यवस्था रहती है कि अपराध का संज्ञान अमुक प्राधिकारी द्वारा या उसकी मंजूरी से किये गए परिवाद पर ही किया जाएगा। संज्ञान के पूर्व ऐसी शर्तों का पूरा होना आवश्यक है। यदि शर्तें पूरी हुए बिना ही संज्ञान कर लिया जाता है तो वह संज्ञान कर लिया जाता है तो वह अधिकारिता-शून्य (without jurisdiction) होगा[1] और कार्यवाही अभिखण्डित (quash) की जा सकती है। अतः संज्ञान करने के पहले यह देख लेना चाहिए कि इस अपराध के संज्ञान के लिए किसी पूर्व शर्त का तो विधान नहीं है।[2] यदि संज्ञान के बाद विचारण के दौरान प्रतीत हो कि अन्य ऐसे अपराध किए गए जिनके संज्ञान को ऐसी कोई

---

1. मोहम्मद शफी बनाम पश्चिमी बंगाल राज्य–1966 सु०को० 69;
2. गोविन्द मेहता बनाम बिहार राज्य–1971 सु०को० 1708;

पूर्व शर्त लागू होती है तो मजिस्ट्रेट उस पूर्व शर्त के पूरे हुए बिना उस अपराध के लिए कार्यवाही न कर सकेगा। किन्तु यदि कोई अन्य ऐसा अपराध प्रतीत हो जिसके लिए ऐसी कोई पूर्व शर्त नहीं है तो मजिस्ट्रेट उसके में विषय भी कार्यवाही कर सकेगा। जब एक ही संव्यवहार में अनेक अपराध किए गए हों जिनमें से कुछ के लिए पूर्व शर्त हो और कुछ के लिए नहीं तो पूर्व शर्त पूरी हुए बिना मजिस्ट्रेट को उस बिना पूर्व शर्त वाले अपराध का भी संज्ञान नहीं करना चाहिए।[3]

साथ ही मजिस्ट्रेट को यह भी देख लेना चाहिए कि अपराध की प्रकृति और उसके स्थान को देखते हुए उसका संज्ञान करना उसकी अधिकारिता में है या नहीं। इसके लिए दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 6 से 19 तक का ध्यान रखना होगा। यदि मजिस्ट्रेट संज्ञान करने के लिए सक्षम न हों तो उसे संज्ञान न करके धारा 201 दं० प्र० सं० के अनुसार कार्यवाही करनी चाहिए।

दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 468 कुछ अपराधों के लिए परिसीमा-काल (Period of limitation) का भी विधान करती है। यह परिसीमा-काल सामान्यतः अपराध की तारीख से गिना जाता है; किन्तु कुछ दशाओं के लिए इसमें भिन्न व्यवस्था भी है। परिसीमा-काल की गणना के लिए धारा 470, 471 व 472 में कुछ विशेष नियम भी है। संज्ञान करते समय इन सबका ध्यान रखना होगा। अपराध विशेष के लिये विहित परिसीमा-काल बीत जाने के बाद मजिस्ट्रेट सामान्यतः उसका संज्ञान नहीं कर सकता। यदि उसे कोई परिवाद या पुलिस रिपोर्ट परिसीमा-काल के बीत जाने के बाद मिलती है तो मामूली तौर पर उसे परिसीमा-वर्जित होने के आधार पर ही खारिज कर दिया जाना चाहिये। साथ ही धारा 473 दं०प्र० सं० की विशिष्ट व्यवस्था भी ध्यान देने योग्य है। उसके अनुसार मजिस्ट्रेट परिसीमा-काल बीत जाने के बाद भी अपराध का संज्ञान उस दशा में कर सकता है जबकि विलम्ब का उचित स्पष्टीकरण हो या संज्ञान करना न्याय के हित में आवश्यक हो। दोनों ही दशाओं में मजिस्ट्रेट को परिसीमा-काल के बाद संज्ञान करते समय उसके कारण लिखने होंगे।

यह अवश्य है कि ऐसे अपराधों के लिए कोई परिसीमा-काल नहीं है जिनके लिए तीन वर्ष से अधिक की अवधि का कारावास दिया जा सकता है। अतः गम्भीर अपराधों के विषय में परिसीमा-काल का प्रश्न नहीं उठेगा।

---

3. कर्नाटक राज्य बनाम हेमा रेड्डी–1981 उम०नि०सा०44 : 1981 सु०को० 1417;

पुलिस रिपोर्ट पर संज्ञान के विषय में यह ध्यान देने योग्य है कि परिसीमा-विषयक स्थिति संज्ञान की तारीख को देखी जायेगी, न कि उस तारीख को जब कि पुलिस रिपोर्ट मजिस्ट्रेट को भेजी गई। यदि पुलिस रिपोर्ट मजिस्ट्रेट के कार्यालय में पड़ी रहती है और मजिस्ट्रेट उस पर कोई आदेश पारित नहीं करता और उसी बीच परिसीमा-काल बीत जाता है तो उसका संज्ञान नहीं किया जा सकेगा। यह भी स्मरणीय है कि परिसीमा-काल का विधान संज्ञान के लिए है, न कि अभियुक्त को तलब करने के लिए। अतः यदि परिसीमा-काल के भीतर संज्ञान कर लिया गया तो अभियुक्त को बाद में भी तलब किया जा सकता है[1]।

उक्त धारा 190 के अनुसार संज्ञान तीन में से किसी भी आधार पर किया जा सकता है :-

क. उन तथ्यों का, जिनसे ऐसा अपराध बनता है, परिवाद प्राप्त होने पर;
ख. ऐसे तथ्यों के बारे में पुलिस रिपोर्ट पर;
ग. (i) पुलिस अधिकारी से भिन्न किसी व्यक्ति से प्राप्त इस इत्तला पर, या
(ii) स्वयं अपनी इस जानकारी पर
कि ऐसा अपराध किया गया है।

इनमें प्रथम आधार परिवाद का है। धारा 2 (घ) के अनुसार "परिवाद" से दण्ड प्रक्रिया संहिता के अधीन मजिस्ट्रेट द्वारा कार्यवाही किये जाने की दृष्टि से मौखिक या लिखित रूप में उससे किया गया यह कथन अभिप्रेत है कि अमुक व्यक्ति या व्यक्तियों ने या किसी अज्ञात व्यक्ति ने यह अपराध किया है। इसके अन्तर्गत पुलिस रिपोर्ट नहीं आती और तदनुसार सामान्यतः पुलिस रिपोर्ट को परिवाद नहीं माना जाएगा। किन्तु, जैसा कि उक्त धारा 2 (घ) के स्पष्टीकरण में बताया गया है, यदि पुलिस रिपोर्ट असंज्ञेय (noncognizable) अपराध के विषय में हो तो वह परिवाद ही समझी जायेगी; और उसके बारे में वही प्रक्रिया अपनाई जाएगी जो परिवाद के लिए विहित है। परिवाद का उद्देश्य यह होना चाहिए कि मजिस्ट्रेट उस मामले में न्यायिक हैसियत से कार्य करें। परिवाद के लिए यह आवश्यक नहीं है कि उसमें बताया जाए कि अपराध किसने किया। अज्ञात व्यक्ति के विरुद्ध भी परिवाद किया जा सकता है[2]। उस दशा में

1. जयलोक ठाकुर बनाम बिहार राज्य–1980 पटना 126;
2. रघुवंश दुबे बनाम बिहार राज्य–1967 सु० को० 1167;

उस दशा में मजिस्ट्रेट अन्वेषण या जांच कराकर अपराधी का पता लगाने का प्रयत्न कर सकता है। परिवाद के लिए यह भी आवश्यक नहीं है कि वह लिखित-रूप में हो[1]। वह जबानी शिकायत करके भी किया जा सकता है। यह आवश्यक है कि परिवाद मौखिक रूप में होने पर वह न्यायालय में लिखा जाना होगा। यह लिखना धारा 200 के अधीन परिवादी का बयान लिखने से भिन्न और उसका पूर्ववर्ती होगा।

किन्तु प्रत्येक दशा में कथन इस बात का होना चाहिए कि अमुक अपराध किया गया है। अपराध के किए दण्ड का विधान करने वाली धारा का उल्लेख अनिवार्य नहीं है। किन्तु उन सभी तथ्यों का उल्लेख होना चाहिए जिनसे अपराध बनता है। धारा 2 (ड) में दी गई परिभाषा के अनुसार अपराध से कोई भी ऐसा कार्य या कार्यलोप (omission) अभिप्रेत है जो विधि द्वारा दण्डनीय है। यहां वही व्यापक अर्थ लिया जाएगा। परिवाद में दिए गए कथनों से विधि द्वारा दण्डनीय कोई कार्य या कार्यलोप अवश्य प्रकट होना चाहिए। यदि परिवाद में दिए गए तथ्यों से कोई अपराध न बनता हो तो मजिस्ट्रेट उसके आधार पर संज्ञान नहीं कर सकता। परिवादी की धारा 200 के अधीन बयान लेने का प्रश्न भी तभी उठेगा जब मजिस्ट्रेट संज्ञान कर ले और उस संज्ञान के लिए परिवाद से अपराध के सारे घटक प्रकट होना आवश्यक है।[1] यदि परिवाद में दिए गए वर्णन से कोई अपराध न बनता हो तो वह परिवाद प्रारम्भ में ही खारिज कर दिया जाना चाहिए। यदि मजिस्ट्रेट ऐसे अपूर्ण परिवाद के आधार पर संज्ञान कर लेता है तो उसकी कार्यवाही उच्च न्यायालय या सेशन न्यायालय द्वारा अभिखण्डित की जा सकती है।

दूसरा आधार जिस पर मजिस्ट्रेट अपराध का संज्ञान कर सकता है वह है पुलिस रिपोर्ट। धारा (2) दं.प्र.सं. के अनुसार "पुलिस रिपोर्ट" से पुलिस अधिकारी द्वारा धारा 173 (2) के अधीन मजिस्ट्रेट को भेजी गई रिपोर्ट अभिप्रेत है। धारा 173 (2) में यह विधान है कि जैसे ही अन्वेषण पूरा हो वैसे ही पुलिस थाने का भारसाधक अधिकारी सम्बन्धित न्यायिक मजिस्ट्रेट को विहित रूप में एक रिपोर्ट भेजेगा। उस उपबन्ध में वे बातें भी गिनाई गई है जिनका रिपोर्ट में उल्लेख होना चाहिए। उनमें एक बात यह है कि क्या कोई अपराध किया गया प्रतीत होता है, और यदि प्रतीत होता है तो उसके द्वारा यदि उसका उत्तर सकारात्मक हो, अर्थात यह लिखा जाए कि अमुक व्यक्ति ने

---

1. भीमप्पा बनाम सदमन— 1970 मु.क. 1153;

अमुक अपराध किया प्रतीत होता है, तो वह रिपोर्ट आरोप-पत्रक या चार्जशीट के रूप में होती है। किन्तु यदि उत्तर नकारात्मक हो, अर्थात कि अपराध किया गया प्रतीत होता, या कि पता नहीं चल सकता कि अपराध किसने किया तो वह "अन्तिम रिपोर्ट" कहलाती है।

दोनों ही दशाओं में मजिस्ट्रेट के सामने तीन विकल्प होते हैं :

(i) यदि उसकी राय में अन्वेषण अपूर्ण है तो वह धारा 156 (3) के अनुसार और अन्वेषण का आदेश दे सकता है।

(ii) यदि वह उस रिपोर्ट के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि विचारण योग्य कोई मामला नहीं बनता तो वह अंतिम रिपोर्ट स्वीकार करके या आरोप-पत्रक को न मानकर कार्यवाही समाप्त कर सकता है।

(iii) यदि उसकी राय हो कि विचारणीय मामला प्रतीत होता है तो वह संज्ञान कर सकता है।

यहां प्रथम विकल्प पर आगे विचार की आवश्यकता नहीं है। द्वितीय विकल्प के विषय में स्वयं संहिता में कोई प्रक्रिया नहीं दी गई है। किन्तु उच्चतम न्यायालय ने निर्णय[1] किया है कि अंतिम रिपोर्ट स्वीकार करने या कार्यवाही समाप्त करने के पूर्व उस व्यक्ति को नोटिस देकर सुनवाई का अवसर दिया जाना चाहिए जिसने थाने में प्रथम इत्तिला रिपोर्ट की। वह यह बता सकता है कि अमुक कारण से मामला समाप्त नहीं किया जाना चाहिए। धारा 173(2) (ii) के अनुसार पुलिस का यह कर्तव्य है कि अन्वेषण पूरा करने पर उस व्यक्ति को, जिसने प्रथम इत्तिला रिपोर्ट की थी, अपने द्वारा की गई कार्यवाही की सूचना दे। उसके अनुसार मजिस्ट्रेट का भी यह कर्तव्य हो जाता है कि प्रथम इत्तिला-कर्ता को नोटिस देकर सुनवाई का अवसर दे। यदि इत्तिला-कर्ता व्यक्ति स्वयं अपराध से पीड़ित व्यक्ति न हो अथवा यदि अपराध से पीड़ित व्यक्ति की मृत्यु हो गई हो तो पीड़ित व्यक्ति या उसके वारिसों को नोटिस देना आवश्यक तो नहीं है, किन्तु यदि मजिस्ट्रेट चाहे तो दे भी सकता है। इसके अतिरिक्त यदि उनको नोटिस के बिना भी किसी अन्य स्रोत से सूचना मिल जाए और वे उपस्थित होकर सुनवाई का अवसर चाहें तो उन्हे सुनवाई का अवसर दिया जाना चाहिए।

---

1. भगवंत सिंह बनाम पुलिस आयुक्त- 1985 उम.नि.सा. 360; 1985 सु.को. 1285;

यदि मजिस्ट्रेट का समाधान हो जाए तो वह अंतिम रिपोर्ट के आधार पर भी संज्ञान कर सकता है। इसके लिए पुलिस द्वारा चार्जशीट भेजी जानी आवश्यक नहीं है। मजिस्ट्रेट को पुलिस से चार्जशीट मांगने की न आवश्यकता है, न अधिकारिता। इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि चार्जशीट दें या अंतिम रिपोर्ट दें, इसका निर्णय करना पुलिस का काम है। मजिस्ट्रेट पुलिस को यह आदेश नहीं दे सकता कि वह चार्जशीट दे।[1] एक बार अंतिम रिपोर्ट स्वीकार कर लेने पर भी मजिस्ट्रेट बाद में नई सामग्री प्रस्तुत होने पर संज्ञान कर सकता है।[2]

पुलिस द्वारा आरोप-पत्रक या अंतिम रिपोर्ट भेज दिए जाने के बाद सामान्यतः पुलिस द्वारा स्वयं आगे अन्वेषण करने का प्रश्न नहीं रह जाता। किन्तु विधिक दृष्टि से उसकी उस मामले में आगे अन्वेषण करने की शक्ति समाप्त नहीं हो जाती। मजिस्ट्रेट द्वारा आदेश होने पर तो वह आगे अन्वेषण करेगी ही। इसके अतिरिक्त वह स्वयं भी नई सामग्री दृष्टि में लाने पर आगे अन्वेषण कर सकती है।[3] दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 173(8) में इसके लिए विशिष्ट विधान भी है।

संज्ञान का तीसरा आधार है पुलिस अधिकारी से भिन्न किसी व्यक्ति से प्राप्त यह इत्तिला कि ऐसा अपराध किया गया है या स्वयं मजिस्ट्रेट की जानकारी में कोई अपराध होना। यदि न परिवाद है, न पुलिस रिपोर्ट, किन्तु मजिस्ट्रेट को किसी अन्य स्रोत से सूचना मिल जाऐ कि अमुक अपराध किया गया है तो वह उसके आधार पर संज्ञान कर सकता है। अपने समक्ष अपराध होने पर भी वह संज्ञान कर सकता है। यदि कोई परिवाद यथाविधि न हो या परिवाद के रूप में ग्राह्य न हो किन्तु उससे अपराध की पूरी जानकारी हो जाए तो मजिस्ट्रेट उसके आधार पर संज्ञान कर सकता।[4] संज्ञान अज्ञात व्यक्ति से सूचना मिलने पर भी किया जा सकता है। किन्तु यदि सूचना पुलिस अधिकारी से मिली हो तो उसके आधार पर इस खण्ड के अन्तर्गत संज्ञान नहीं किया जा सकता। केस डायरी में भले ही बयान अन्य व्यक्ति के हों किन्तु वह सूचना पुलिस अधिकारी से ही मिलती है। अतः हमारी राय में वह भी इस खण्ड के अन्तर्गत नहीं आएगी।

---

1. अभिनन्दन झा बनाम दिनेश मिश्र- 1968 सु.को. 117;
2. गोपाल विजय शर्मा बनाम भुनेश्वर शर्मा-1983 उम.नि.सा. 5(1);
3. राम लाल नारंग बनाम राज्य–1979 सु० को० 1791;
4. केरल राज्य आदि के मामले में –1969 केरल 111;

इस खण्ड के अन्तर्गत संज्ञान के लिए एक विशिष्ट व्यवस्था है, जो धारा 190(1)(ग) के अन्तर्गत करता है तो अभियुक्त को अधिकार प्राप्त है कि वह संज्ञान करने वाले मजिस्ट्रेट से आवेदन करे कि उसका मामला किसी अन्य मजिस्ट्रेट को भेज दिया जाए और ऐसे आवेदन को स्वीकार करना अनिवार्य है। साथ ही मजिस्ट्रेट का यह भी कर्तव्य है कि जब वह उक्त खण्ड के अन्तर्गत संज्ञान करे तो स्वयं अभियुक्त को बता दे कि उसे इस प्रकार आवेदन देने का अधिकार है। और वह बात साक्ष्य लेने के पहले बता दी जानी चाहिए।

जैसा कि पहले बताया गया, संज्ञान अपराध का होता है, न कि अभियुक्त का। ऐसे परिवाद पर भी संज्ञान किया जा सकता है जिसमें अभियुक्त ज्ञात ही न हो। अतः यदि पुलिस रिपोर्ट के आधार पर संज्ञान करने के बाद मजिस्ट्रेट की दृष्टि में आये कि कोई अन्य व्यक्ति भी अपराध में शामिल था तो मजिस्ट्रेट उसे भी तलब कर सकता है और यह मूल संज्ञान का अंग होगा तथा मामला पुलिस रिपोर्ट पर संज्ञान का ही रहेगा।[1]

यह भी स्मरणीय है कि अपराध के संज्ञान से ही अभियुक्त के विरुद्ध कार्यवाही प्रारम्भ नहीं हो जाती। किसी भी अभियुक्त के विरुद्ध कार्यवाही प्रारम्भ हुई तभी मानी जायेगी जब उसे तलब करने का आदेश दिया जाये।[2] परिवाद के मामले में अपराध का संज्ञान परिवादी का धारा 200 के अधीन बयान लिखने के समय ही हो जाता है[3] और मजिस्ट्रेट चाहे तो धारा 202 के अधीन सबूत मांग सकता है तथा अभियुक्त को समन किये बिना भी परिवाद धारा 203 के अधीन खारिज कर सकता है।

फिर, इस धारा 190 (1) में लिखा गया है कि मजिस्ट्रेट संज्ञान "कर सकेगा"। इससे यह अर्थ निकाला जा सकता है कि मजिस्ट्रेट चाहे तो संज्ञान करे और न चाहे तो न करे। ऐसी व्यवस्था संविधान के अनुच्छेद 14 के प्रतिकूल होगी। अतः अर्थ यह लिया जायेगा कि यदि मामला संज्ञान के लिये उचित हो तो मजिस्ट्रेट अवश्य संज्ञान करेगा।[4]

---

1. रघुवंश दुबे बनाम बिहार राज्य–1967 सु.को. 1167, हरे राम सत्पथी बनाम टीकाराम अग्रवाल–1978 सु.को. 1568,
2. डा० एस. एस. खन्ना बनाम मुख्य सचिव – 1983 उच. नि. सा. 249, 1984, सु. को. 595,
3. अवलोक ठाकुर बनाम बिहार राज्य–1980 पटना 126,
4. ए. सी. अग्रवाल बनाम मु. रामकली–1968 सु. को. 1,

किसी भी आधार पर संज्ञान करके मजिस्ट्रेट धारा 204 दं. प्र. सं. के अनुसार अभियुक्त के लिये समन या वारण्ट जारी करता है। यह स्पष्ट है कि समन या वारण्ट जारी करने का अवसर तभी आयेगा जब मजिस्ट्रेट की राय में अभियुक्त के विरुद्ध प्रथम दृष्ट्या मामला बनता प्रतीत हो। सामान्यतः संज्ञान पुलिस रिपोर्ट या परिवाद पर ही होता है। पुलिस की रिपोर्ट पर संज्ञान करके तुरन्त अभियुक्त के नाम समन जारी कर दिया जाता है। उसके लिये मजिस्ट्रेट अपना समाधान केस डायरी आदि के आधार करता है। परिवाद के मामले में मजिस्ट्रेट अपना समाधान करने के लिये धारा 200 के अधीन परिवादी का बयान लिखता है और धारा 200 के ही व धारा 202 के अधीन अन्य साक्षियों के बयान भी लिख सकता है। वह पुलिस या मजिस्ट्रेट द्वारा जांच भी करा सकता है। अपना समाधान होने पर ही वह अभियुक्त के नाम समन जारी कर सकेगा।[1] अन्यथा उसका आदेश अभिखण्डित किया जा सकता है।

---

1. श्रीमती मंजु गुप्ता बनाम ले. कर्नल एम. एस. पेण्टल – 1982 उम. नि. पा 305, 1982 मु. को. 1181.

:• :—

अविज्ञातहतस्याशु कलहं सुताबान्धवाः।
पृच्छ्या योषितश्चास्य परिपुंसि रताः पृथक्॥
स्त्रीद्रव्यतृतिकामो वा केन वा सह संगतः।
तत्पदेशसमासन्नं पृच्छेद्वापि जनः शनैः॥

याज्ञवल्क्य, 2 – 280, 281 ॥

अज्ञात व्यक्ति द्वारा हत्या किये जाने पर अपराधी का पता लगाने के लिये मृतक के पुत्र बान्धवों से पूछना चाहिये कि उसका किसी से झगड़ा तो नहीं हुआ था, दूसरे पुरुष से सम्बन्ध रखने वाली उसके यहाँ की स्त्रियों से भी अलग-अलग पूछताछ करनी चाहिये, यह भी पता लगाना चाहिये कि मृतक को स्त्री, धन या नौकरी की तलाश तो नहीं थी तथा वह किसके साथ गया था, आस-पास के व्यक्तियों से भी धैर्य के साथ पूछताछ करनी चाहिये।

—: 0 :—

यह ठीक ही कहा गया है कि प्रत्येक विधिक कहावत या तो सामान्योक्ति होती है या अर्धसत्य। और सर कार्लटन ऐलेन ने बड़ी योग्यता के साथ दर्शित किया है कि प्रश्नगत सिद्धान्त से किस प्रकार त्रुटि हो सकती है। उन्होंने बताया है कि अनुपात बताने में संख्याएं महत्वहीन नहीं हैं। उन्होंने कहा कि मैं यह कहने का साहस करता हूं कि भावुक लोग तो इस प्रस्थापना तक से सहमत होंगे कि भले ही एक हजार या एक लाख दोषी व्यक्ति छूट जाएं किन्तु एक निर्दोष व्यक्ति दण्डित न हो, किन्तु कोई उत्तरदायित्वपूर्ण और व्यावहारिक व्यक्ति इस मत से सहमत न होगा, क्योंकि यह स्पष्ट है कि यदि यह अनुपात बढ़ाया ही जाता रहा तो एक ऐसी स्थिति आ जाएगी जबकि सारी न्याय-व्यवस्था ठप हो जायेगी और समाज में अव्यवस्था का साम्राज्य हो जायेगा।-लीगल ड्यूटीज (1931) पृष्ठ 286।

दोषी व्यक्ति को दोषमुक्त करने में केवल इतनी ही बुराई नहीं है कि एक दोषी व्यक्ति दण्ड से बच गया। उससे पुलिस का कठिन और मूल्यवान कार्य व्यर्थ हो जाता है। यदि उक्त प्रवृत्ति अत्यधिक बढ़ी तो पुलिस या तो विचलित हो जायेगी या दोषसिद्ध करने के लिए अनुचित ढंग अपनाएगी। यदि अपील व्यक्ति व्यापक रूप से दोषमुक्त होते हैं तो उससे विधि की उपेक्षा में वृद्धि होगी और फिर उसके कारण सार्वजनिक मांग होगी कि दोषी ठहराये गये व्यक्तियों को और कठोर दण्ड दिया जाय। इस प्रकार दोषी व्यक्तियों की दोषमुक्ति से भयानक दण्ड विधि का जन्म होता है। निस्संदेह दोषमुक्ति उस दशा में विशेष गम्भीर होती है। जबकि वह ऐसे खतरनाक अपराधी को हो जो संभाव्यतः किसी के प्रति फिर अपराध करेगा। इन्हीं सब कारणों से वाइकाउण्ट साइमन से सहमति व्यक्त करते हुए यह कहना सही होगा कि दोषी व्यक्ति की दोषमुक्ति से उत्पन्न होने वाला अन्याय उससे कम नहीं है जो कि निर्दोष व्यक्ति की दोषसिद्धि से होता है।[1] -स्टरलैण्ड (1944) अपील केसेज 315 (324)।

दोषी व्यक्ति को अत्यधिक संरक्षण प्रदान करने वाला सिद्धांत अब और भी असमर्थनीय हो जाता है जबकि हम दण्ड विधि में अपराधी को दण्ड देने की अपेक्षा उसका सुधार करने पर अधिक बल दे रहे हैं।

प्रश्न मात्रा का ही होता है। निर्दोषसिद्धि की कुछ तो जोखिम उठानी ही पड़ेगी सबूत के भार की दृष्टि से इसका अर्थ यह होता है कि यह आवश्यक नहीं

1. तुलना कीजिए – जितना दोष निर्दोष व्यक्ति को दण्ड देने में है उतना ही दोषी व्यक्ति को छोड़ने में है। – मनु. 8-128।

है कि मामला सभी प्रकार के संदेह से रहित ढंग से साबित किया जाए। अपराध का किसी व्यक्ति के विरुद्ध साक्ष्य बहुत अधिक हो सकता है और फिर भी अनेक असाधारण परिस्थितियों की कल्पना की जा सकती है जिनमें वह निर्दोष लगे। उदाहरणार्थ, हम यह मान लें कि कोई ऐसा बाहरी व्यक्ति, जिसके होने का कोई भी साक्ष्य नहीं है, ऐन मौके पर आ गया और वस्तुतः उसी ने अपराध किया जबकि साक्ष्य यही प्रकट करता है कि केवल अभियुक्त ही मौके पर था; या हत्या के आरोप के मामले में यह मान लें कि आहत व्यक्ति की मृत्यु उसके शरीर में गोली लगने के ठीक पूर्व के क्षण में हृदयगति रुक जाने के कारण हो गई। यह सही है कि ये असंभाव्य बातें कभी-कभी वास्तव में हो जाती हैं और उनकी उपेक्षा करने पर कभी अन्याय हो जाने का अवसर रहता है। किन्तु उसका ध्यान न्याय-प्रशासन में नहीं रखा जा सकता; उसे उतनी जोखिम तो उठानी ही पड़ेगी।

(हेमलिन लेक्चर से)

— : 0 : —

सन्देह का लाभ

–[संकलित]

"संदेह का लाभ" पद निर्णयज विधि[1] की देन है उसका प्रयोग भारतीय साक्ष्य अधिनियम, 1872 की किसी धारा में नहीं किया गया है। निर्णय का कोई भी निष्कर्ष साक्ष्य और परिस्थितियों पर आधारित होता है। किसी को भी दण्ड तभी दिया जा सकता है जबकि यह साबित हो जाय कि उसने अपराध किया। अतः प्रश्न उठता है कि यह कब माना जाए कि अपराध साबित हुआ। उसके लिए 'साबित'[2] शब्द की भारतीय साक्ष्य अधिनियम, 1872 की धारा 2 में दी गई यह परिभाषा दर्शनीय है :

"साबित – कोई तथ्य साबित हुआ कहा जाता है जब न्यायालय अपने समक्ष के विषयों पर विचार करने के पश्चात् या तो यह विश्वास करे कि उस तथ्य का अस्तित्व है या उसके अस्तित्व को इतना अधिसम्भाव्य[3] समझे कि उस विशिष्ट मामले की परिस्थितियों में किसी प्रज्ञावान्[4] व्यक्ति को इस अनुमान पर कार्य करना चाहिए कि उस तथ्य का अस्तित्व है।"

इसके अनुसार कोई बात साबित हुई तभी कही जा सकती है जबकि अपने समक्ष की सामग्री पर विचार करने के पश्चात् न्यायालय को या तो यह विश्वास हो जाय कि यह बात है या वह बात है या वह उसे इतनी अधिसम्भाव्य लगे कि उन परिस्थितियों में एक प्रज्ञावान् व्यक्ति यह मानकर चलेगा कि यह बात है।

यह स्मरणीय है कि "साबित" शब्द की यह परिभाषा सिविल और दाण्डिक दोनों प्रकार के मामलों को लागू होती है। किन्तु व्यवहार में आकर अन्तर हो गया है। सिविल मामले में उभय पक्ष अपना अपना साक्ष्य देते हैं और जिस पक्ष का सबूत अधिक भारी पड़ता है उसके पक्ष में निष्कर्ष निकाल लिया जाता है। जिधर अधिसम्भाव्यता अधिक लगती है उधर ही न्यायालय का निष्कर्ष चला जाता है। और इतना तो बताया ही जा सकता है कि अधिसंभाव्यता किधर अधिक है। अतः वहाँ संदेह का लाभ देने का प्रश्न नहीं उठता। किन्तु दांडिक मामलों में सबूत का पूरा भार अभियोजन पर रहता है, वह अभियोजन चाहे पुलिस द्वारा किया जाए, और चाहे किसी निजी व्यक्ति या संस्था द्वारा। उसमें

---

1. Case law. 2. Proved. 3. Probable. 4. Prudent.

यह आवश्यक नहीं होता कि अभियुक्त भी अपने बचाव में सबूत दे। सबूत देना उसकी स्वेच्छा पर निर्भर करता है और जब वह सबूत दे तब भी यह नहीं देखा जाएगा कि किसका पलड़ा अधिक भारी है। फिर भी देखा यही जाएगा कि क्या अभियोजन पक्ष ने अपना कथानक साबित कर दिया है; और ऐसा सबूत मानने के लिए उपर्युक्त परिभाषा ही लागू होगी। यदि वह अपेक्षित स्तर तक साबित नहीं हुआ है तो माना जायेगा कि वह साबित नहीं हुआ। यदि विपरीत बात साबित हो जाए, अर्थात् यदि साबित हो जाए कि अभियुक्त ने अपराध नहीं किया, तब तो स्थिति "नासाबित"[1] वाली आजाएगी। किन्तु एक बीच की स्थिति होती है जिसमें अभियोजन कथानक न 'साबित' हो और न "नासाबित"। यदि अभियुक्त के विरुद्ध साक्ष्य हो किन्तु वह "साबित" की परिभाषा में दिए गए मापदण्ड को पूरा नहीं करता तो कानून की दृष्टि से यही कहा जाएगा कि अपराध साबित नहीं हुआ; किन्तु निर्णयज विधि में संदेह का लाभ अभियुक्त को देने की बात कही गई है। यह स्थिति तब होगी जबकि अभियुक्त के विरुद्ध सबूत तो हो किन्तु उसके अपेक्षित स्तर का न होने के कारण उसके आधार पर दोषसिद्धि करना उचित न लगे। ऐसी ही स्थिति में अभियुक्त को सन्देह का लाभ देने की बात कही जाती है।

अभियुक्त को संदेह का लाभ देने का सिद्धान्त इस पाश्चात्य मान्यता पर आधारित है कि भले ही दस अपराधी छूट जाएं किंतु एक भी निर्दोष व्यक्ति दण्डित न हो। यद्यपि प्राचीन भारतीय परम्परा यही रही है कि जितना दोष निर्दोष व्यक्ति को दण्डित करने में है उतना ही दोष दोषी व्यक्ति को छोड़ने में है[2]; किन्तु आज हमारी विधि पाश्चात्य प्रणाली की है और वहाँ के सिद्धान्त यहां भी लागू किए जा रहे हैं। उनमें किसी विशेष परिवर्तन की आशा भी नहीं की जा सकती। वैसे अब पश्चिम में भी उक्त पारम्परिक मान्यता को चुनौती दी जा रही। (देखिए–अन्तिक पूर्वगामी निबन्ध।)

अब प्रश्न उठता है कि कब यह कहा जाए कि सन्देह है और सन्देश का लाभ कब दिया जाए। सभी न्यायालय अपने निष्कर्ष साक्ष्य के आधार पर, अर्थात् सुनी बातों के आधार पर, निकालते हैं। जब प्रत्यक्ष देखी हुई बात तक में कभी संदेह का अवसर रहता है तो दूसरे के कहने के आधार पर सामान्यतः ऐसी स्थिति आना लगभग असंभव है कि बात का शत-प्रतिशत निश्चय हो जाए।

---

1. Disproved. 2. मनुस्मृति 8-128;

वास्तव में शत-प्रतिशत निश्चय की आवश्यकता भी नहीं है। उपर्युक्त परिभाषा से ही स्पष्ट है कि न तो यह आवश्यक है कि अभियोजन पक्ष अपनी बात निश्चायक रूप से[1] साबित करे[2] और न यह आवश्यक है कि अभियोजन साक्ष्य ऐसा हो कि आंख मीचकर माना जा सके।[3] इस व्यावहारिक दृष्टिकोण से प्रश्न केवल यह होगा कि एक सामान्य बोध और बुद्धि वाला व्यक्ति उन परिस्थितियों में क्या मानकर कार्य करेगा। न अंधविश्वासी[4] वाला मानदण्ड अपनाना है, न अति शंकालु व्यक्ति का।

"सन्देह का लाभ" के सिद्धांत का बहुधा दुरुपयोग भी हो जाता है। काम से बचने का यह सस्ता तरीका है कि कौन प्रत्येक परिस्थिति और साक्ष्य का विश्लेषण करे; बस कह दिया कि मामला संदेह-रहित ढंग से साबित नहीं हुआ है; अतः अभियुक्त को संदेह का लाभ दिया जाता है। उससे सस्ती लोकप्रियता भी मिलती है। किन्तु यह सस्ती लोकप्रियता सारी न्यायपालिका के लिए बड़ी महंगी पड़ सकती है। दाण्डिक मामला तभी बनता है जबकि प्रश्नगत कार्य समाज-विरोधी भी समझा जाता है। समाज में शांति-व्यवस्था बनाए रखने के लिए यह नितांत आवश्यक है कि अपराधी को दण्ड मिले। यदि न्यायालय अपराधी को दण्डित नहीं करता तो एक ओर तो हमारे न्यायालयों में जन-आस्था विचलित हो जाएगी और दूसरी ओर जनसाधारण स्वयं बदला लेकर अपना हिसाब चुकाने के लिए प्रयत्नशील होंगे; अथवा पुलिस की झूठी मुठभेड़ की वारदातों के द्वारा शातिर अपराधियों को समाप्त करने के लिए प्रेरित होगी। राज्य के अस्तित्व का उद्देश्य ही विफल हो जायेगा और घोर अव्यवस्था फैल जाएगी। इस प्रकार, यह सदैव स्मरणीय है कि दाण्डिक मामले के निर्णय में प्रश्न केवल अभियुक्त का ही नहीं होता है, बल्कि व्यथित व्यक्ति की भावनाओं व प्रतिक्रियाओं का और समाज के हित का भी होता है। अतः संदेह का लाभ हल्के से नहीं दिया जा सकता। इसीलिए यह कहा जाता है कि मामला "युक्तियुक्त संदेह"[5] से रहित ढंग से साबित होना चाहिए। अभियुक्त को केवल ऐसे संदेह के आधार पर छोड़ा जा सकता है जो युक्तियुक्त या उचित हो, अर्थात् जिसके लिए उचित आधार हों।

---

1. Conclusively.
2. केरल राज्य बनाम बहुलेयन-1986 उम.नि.सा. 433 : आ.इं.रि. 1987 सु.को.1959;
3. उत्तर प्रदेश राज्य बनाम राजा राम-1986 उम.नि.सा. 465 : आ.इं रि. 1986 सु. को. 1959;
4. Credulous.
5. Reasonable doubt;

जैसा कि न्यायमूर्ति श्री श्रीकृष्ण अय्यर[1] ने बताया है, साक्ष्य में आई प्रत्येक परिस्थिति सबूत की एक कड़ी होती है, चाहे वह मजबूत हो या कमजोर और वह निश्चितता के साथ साबित होनी चाहिए। विश्वसनीय बयानों से दृढ़तापूर्वक जोड़ी गई कड़ियों से दोष की निश्चितता की एक ऐसी मजबूत जंजीर बन सकती है जो अभियुक्त को बांध दे यदि प्रत्येक कड़ी को अलग-अलग लिया जाता है तो उससे एक संकेत ही मिलता है, किन्तु जब सभी कड़ियां एक से एक जुड़ जाएं तो एक ऐसी बेड़ी बन सकती है जिससे अभियुक्त बच न पाए और तभी अभियुक्त को दोषी ठहराने वाले तथ्यों की शृंखला दोष-सिद्ध के लिए पर्याप्त होगी, उसके पहले नहीं।

अतः प्रश्न यह होता है कि क्या प्रस्तुत मामले में दोषिता दर्शित करने वाली परिस्थितियों का संयुक्त प्रभाव यह है कि न्यायालय यही निष्कर्ष न निकाल सके कि अभियुक्त दोषी हो सकता है, बल्कि यह निष्कर्ष निकाले कि अभियुक्त दोषी है। दोष का ऐसा निष्कर्ष निकालने के लिए यह आवश्यक नहीं नहीं है कि प्रत्येक विपरीत संभावना का निराकरण कर दिया जाए। जैसा कि **शिवाजी साहबराव बोबडे बनाम महाराष्ट्र राज्य** – आ.इं.रि. 1973 सु.को. 2622 में उच्चतम न्यायालय ने स्पष्ट किया, युक्तियुक्त संदेह से रहित साबित होने के सिद्धांत का यह अर्थ नहीं निकाला जा सकता कि जब किसी कमजोर मस्तिष्क में संदेश की हवा का हल्का सा झोंका लगे तो अभियुक्त को दोषमुक्त कर दिया जाए। हल्की-फुल्की संभावनाओं के आधार पर दोषमुक्त करने से न्यायपालिका की हो विश्वसनीयता घट जाती है। युक्तियुक्त संदेह का लाभ देने के सिद्धांत का यह अर्थ नहीं है कि मस्तिष्क हिचकिचाहट के हल्के से झोंके से भी कमजोर वृक्ष की भांति झुक जाए। न्यायाधीश कठोरतर सामग्री से निर्मित होता है और उसे पारिस्थितिक या प्रत्यक्ष साक्ष्य से निकलने वाले उचित निष्कर्षों का व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाना चाहिए, जैसा कि **कलीराम बनाम हिमाचल प्रदेश राज्य**-आ.इं.रि. 1973 सु.को. 2773 में उच्चतम न्यायालय ने बताया, यदि अभियुक्त के दोषी होने में उचित सन्देह हो तो उसे उस सन्देह के लाभ से वंचित नहीं करना चाहिए। साथ ही यह भी नहीं होना चाहिए कि प्रत्येक बात को सन्देह की दृष्टि से देखें। एक सन्देह से दूसरा सन्देह उत्पन्न होता है। सन्देह

---

1. धर्मदास वाधवानी बनाम उत्तर प्रदेश राज्य–आ.इं.रि. 1975 सु.को. 241;
2. सरद विरधीचन्द सारदा बनाम महाराष्ट्र राज्य–1984 उम.नि.सा. 577 : आ.इं.रि. 1984 सु.को. 1622

काल्पनिक मात्र नहीं होना चाहिए। न न्यायाधीश को अनावश्यक रूप से शंकालु होना चाहिए। अतः दृष्टिकोण व्यावहारिक होना चाहिए तथा सन्देह का लाभ तभी दिया जाना चाहिए जब उसके लिए उचित आधार हों। हम उक्त परिभाषा की ओर ध्यान देकर प्रश्न कर सकते हैं कि इस मामले की परिस्थितियों और साक्ष्य को देखते हुए एक सामान्य प्रज्ञा वाला व्यक्ति क्या मानकर चलेगा, कि अभियुक्त ने अपराध किया या नहीं, और उसी के अनुसार हम अपना निर्णय करें साक्ष्य और परिस्थितियों के मूल्यांकन के सुप्रतिष्ठित सिद्धांत हैं। उन्हीं के अनुसार मूल्यांकन करके अपना निर्णय दें। जहां साक्ष्य ऐसा हो कि अभियुक्त के दोषी होने की व निर्दोष होने की दोनों ही संभावनाएं बनें वहां उसे अवश्य सन्देह का लाभ दिया जाना चाहिए।

—: 0 :—

दया की अपेक्षा न्याय अन्ततोगत्वा अधिक दयापूर्ण होता है क्योंकि उसमें लोगों में सद्गुण आते हैं जो उन्हें अच्छा नागरिक बनाते हैं।

—जे० डी० साल्वेन

सत्ता मानव मस्तिष्क से मानवीयता और सज्जनता के गुण शनैः शनैः नष्ट कर देती है।

—एडमण्ड बर्क

—: 0 :—

न्यायालय का अवमान : उच्चतम न्यायालय के विचार

(संक्षिप्त)

कुछ अधिवक्ता यह धारणा रखते प्रतीत होते हैं कि पीठासीन अधिकारी के विरुद्ध अन्तरण आवेदन में वे सभी के आक्षेप कर सकते हैं और यह कह कर बच जाएंगे कि आवेदन में जो भी लिखा गया वह मुवक्किल के अनुदेशों पर लिखा गया। यह सही नहीं है। **एम. बी शरीफ बनाम नागपुर उच्च न्यायालय के न्यायाधीश**–आ.इं.रि. 1955 सु.को. 19 में उच्चतम न्यायालय ने बताया

इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि कुछ वकील यह गलत धारणा बनाए रखते हैं कि जब वकील अपने मुवक्किल के हित में अथवा उसके अनुदेश के अनुसार कार्य करता है तो वह अपने-अपने मुवक्किल के प्रति अपने उचित कर्तव्य का निर्वहन ही कर रहा होता है, भले ही वह ऐसे आवेदन या अभिवचन[1] पर हस्ताक्षर करे जिसमें न्यायालय की बदनामी करने वाली सामग्री हो। उनका विचार होता है कि जब न्यायालय के प्रति उनके दायित्व में और मुवक्किल के प्रति उनके कर्तव्य में विरोध हो तो मुवक्किल के प्रति कर्तव्य ही अधिक महत्वपूर्ण होता है।

इस भ्रान्त धारणा को स्पष्ट और सबल निर्णय द्वारा निर्मूल किया जाना चाहिए और हम चाहते हैं कि इस बात का व्यापक प्रचार हो कि जो अधिवक्ता न्यायालय की बदनामी करने वाली सामग्री से युक्त आवेदन या अभिवचन पर हस्ताक्षर, अपना इस बात का प्रथम दृष्ट्या समाधान किए बिना कि उसके लिए पर्याप्त आधार हैं, न्याय कार्य को रोकने या उसमें विलम्ब करने के लिए, करता है, वह स्वयं न्यायालय के अवमान का दोषी होता है। वकील का अपने मुवक्किल के प्रति यह कर्तव्य नहीं होता कि ऐसे आवेदनों में रुचि ले, बल्कि उसका कर्तव्य है कि अपने मुवक्किल को सलाह दे कि आवेदन में इस प्रकार का आक्षेप न करे।

न्यायालय का अवमान करने के बाद माफी का अनुरोध उन परिस्थितियों में अस्वीकार किया जा सकता है जबकि उसे स्वीकार करना उस मामले की

---

1. Pleading.

परिस्थितियों औचित्यपूर्ण न हो। जैसा कि उच्चतम न्यायालय ने **एस.डी. जैकवाल बनाम उत्तर प्रदेश राज्य**-(1984) 3 सु. कों. के. 404 (1984 उम.नि.सा. 405) में कहा-

"हमें खेद है कि न्यायालय के अवमान सम्बन्धी विधि के प्रशासन में हम इस विचार-पद्धति से सहमत नहीं हो सकते कि थप्पड़ मारकर कहा जाय कि हमें खेद है और फिर सब बात भुला दी जाए। 'खेद है' कह देने से थप्पड़ मारने वाला कुछ घट नहीं जाता, और न थप्पड़ खाने वाले की पीड़ा ही घटती है। उक्त पाखण्डपूर्ण शब्द बहुधा उसी मुंह से कहे जाते हैं जिसने थोड़ी देर पहले ही किंचित् खेद के बिना न्यायिक अधिकारी के लिए अपमान-वचन कहे या उसकी मानहानि की। विद्वान् न्यायाधीश के समक्ष उपस्थित होकर उसने जो लिखित क्षमायाचना की थी उसमें कहा था कि वह ऐसा माननीय उच्चतम न्यायालय के निदेशानुसार कर रहा है। इससे तो एक प्रकार से यह प्रकट होता है कि यह कागजी क्षमायाचना थी और खेद की अभिव्यक्ति उसकी कलम से ही हुई, न कि हृदय से। 'खेद है' ऊपर से कहना एक बात है और खेद का वास्तव में अनुभव करना दूसरी बात है ——।"

हमारे विचार से यह ठीक नहीं होगा कि अपीलार्थी के केवल क्षमायाचना कर लेने के आधार पर हम दण्डादेश को रद्द करके उसे दण्ड के बिना जाने दें। अन्यथा नतीजा यह होगा कि जो व्यक्ति भी न्यायाधीश को घोरतम लांछन लगाकर धमकाना चाहेगा वह पहले तो उसके लिए अपमान-वचन कहेगा और फिर दिखावटी माफी मांग लेगा, जिसमें उसका कुछ नहीं लगता। यदि क्षमायाचना को सामान्य तौर पर न कि अपवाद स्वरूप, स्वीकार किया जाए तो हमारी ओर से एक प्रकार से इस बात की छूट हो जायेगी कि न्यायालय के लिए अपमान-वचन कहें और अवमान करें और फिर भी दण्डित न हों। ऐसी दशा में- - - -कोई भी पीठासीन न्यायाधीश इस बात की स्वतंत्रता अनुभव नहीं करेगा कि वह मामले का निर्णय अपने अन्तःकरण के अनुसार करे क्योंकि उसे यह भय सताता रहेगा कि ऐसा कोई भी अधिवक्ता, जो अपनी इच्छा के प्रतिकूल निर्णय होने पर न्यायाधीश पर स्वच्छन्द आक्षेप करने में संकोच नहीं करता, उसे बदनाम एवं उत्पीड़ित कर सकता है। यदि इस स्थिति को सहन किया जाए तो जो अधिवक्ता चरित्रहनन और उत्पीड़न की धमकी द्वारा न्यायाधीश को डरा धमका कर अपनी इच्छानुसार काम करा सकेंगे उन्हें बादकरी उन अधि-

परिस्थितियों औचित्यपूर्ण न हो। जैसा कि उच्चतम न्यायालय ने **एल.डी. जंकवाल बनाम उत्तर प्रदेश राज्य**-(1984) 3 सु. कों. के. 404 (1984 उम.नि.सा. 405) में कहा-

"हमें खेद है कि न्यायालय के अवमान सम्बन्धी विधि के प्रशासन में हम इस विचार-पद्धति से सहमत नहीं हो सकते कि थप्पड़ मारकर कहा जाय कि हमें खेद है और फिर सब बात भुला दी जाए। 'खेद है' कह देने से थप्पड़ मारने वाला कुछ घट नहीं जाता, और न थप्पड़ खाने वाले की पीड़ा ही घटती है। उक्त पाखण्डपूर्ण शब्द बहुधा उसी मुंह से कहे जाते है जिसने थोड़ी देर पहले ही किंचित् खेद के बिना न्यायिक अधिकारी के लिए अपमान-वचन कहे या उसकी मानहानि की। विद्वान् न्यायाधीश के समक्ष उपस्थित होकर उसने जो लिखित क्षमायाचना की थी उसमें कहा था कि वह ऐसा माननीय उच्चतम न्यायालय के निदेशानुसार कर रहा है। इससे तो एक प्रकार से यह प्रकट होता है कि यह कागजी क्षमायाचना थी और खेद की अभिव्यक्ति उसकी कलम से ही हुई, न कि हृदय से। 'खेद है' ऊपर से कहना एक बात है और खेद का वास्तव में अनुभव करना दूसरी बात है ——।"

हमारे विचार से यह ठीक नहीं होगा कि अपीलार्थी के केवल क्षमायाचना कर लेने के आधार पर हम दण्डादेश को रद्द करके उसे दण्ड के बिना जाने दें। अन्यथा नतीजा यह होगा कि जो व्यक्ति भी न्यायाधीश को घोरतम लांछन लगाकर धमकाना चाहेगा वह पहले तो उसके लिए अपमान-वचन कहेगा और फिर दिखावटी माफी मांग लेगा, जिसमें उसका कुछ नहीं लगता। यदि क्षमायाचना को सामान्य तौर पर न कि अपवाद स्वरूप, स्वीकार किया जाए तो हमारी ओर से एक प्रकार से इस बात की छूट हो जायेगी कि न्यायालय के लिए अपमान-वचन कहें और अवमान करें और फिर भी दण्डित न हों। ऐसी दशा में- - - -कोई भी पीठासीन न्यायाधीश इस बात की स्वतंत्रता अनुभव नहीं करेगा कि वह मामले का निर्णय अपने अन्तःकरण के अनुसार करे क्योंकि उसे यह भय सताता रहेगा कि ऐसा कोई भी अधिवक्ता, जो अपनी इच्छा के प्रतिकूल निर्णय होने पर न्यायाधीश पर स्वच्छन्द आक्षेप करने में संकोच नहीं करता, उसे बदनाम एवं उत्पीड़ित कर सकता है। यदि इस स्थिति को सहन किया जाए तो जो अधिवक्ता चरित्रहनन और उत्पीड़न की धमकी द्वारा न्यायाधीश को डरा धमका कर अपनी इच्छानुसार काम करा सकेंगे उन्हें बादकरी उन अधि-

(सम्पादकीय :- न्यायालय के अवमान की कार्यवाही व्यक्ति विशेष के अपमान के प्रतिकार स्वरूप नहीं, बल्कि न्यायपालिका के स्वतंत्र कार्यकरण और उसमें जन-आस्था बनाए रखने की दृष्टि से की जाती है। उसके लिए अनेक उपबंध हैं। न्यायालय के अंतरिम आदेश का उल्लंघन करने वाले व्यक्ति के विरुद्ध कार्यवाही सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 के आदेश 39 के नियम 2 के अधीन की जा सकती है। दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 345 में भी तद्विषयक उपबंध है, जिसके अनुसार सिविल न्यायालय भी दण्ड दे सकता है। इसके अतिरिक्त न्यायालय अवमान अधिनियम, 1971[1] है। उसके अधीन दण्ड देने का अधिकार उच्च न्यायालय को ही है तथा अधीनस्थ न्यायालय जाँच करके उच्च न्यायालय को निर्देश[2] ही भेज सकते हैं। अवमान विषयक अधिकारिता का प्रयोग कम से कम किया जाना चाहिए। किन्तु जब लोकहित में उसका प्रयोग अपेक्षित लगे तो कार्यवाही अवश्य की जानी चाहिए। यह स्मरण रहे कि ऐसी कार्रवाई अपना संतुलन खोए बिना शान्त भाव से की जानी चाहिए जिससे व्यक्तिगत भावनाओं से यथासंभव ऊपर रहा जा सके।)

---

1. Contempt of Courts Act 2. Reference.

दान्तं कुलीनं मध्यस्थमनुद्वेगकरं स्थिरम् ।
परत्रभीरुं धर्मिष्ठमुद्युक्तं क्रोधवर्जितम् ॥

—कात्यायन, मिताक्षरा 2–3 में उद्धृत ॥

-⊂:०:⊂-

न्यायाधीश को संयमी, अच्छे कुटुम्ब का, समदृष्टि, उद्वेगरहित, धीर, दयावान, धर्मात्मा, कार्य में तत्पर और क्रोध-रहित होना चाहिए।

—:०:—

न्यायिक प्रशिक्षण एवं अनुसंधान संस्थान, उत्तर प्रदेश, लखनऊ की ओर से उसके निदेशक श्री अवध बिहारी हजेला द्वारा प्रकाशित एवं उत्तर प्रदेश पंचायती राज वित्त एवं विकास निगम लि० "प्रिंटिंग प्रेस" बी–77 निराला नगर, लखनऊ द्वारा मुद्रित।